गोस्वामी तुलसीदास

गोस्वामी तुलसीदास

लेखक

श्यामसुंदरदास

पीतांबरदत्त बड्थ्वाल

प्रयाग

हिंदुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रांत

Published by
The Hindustani Academy, U P,
Allahabad

First Edition
Price Rs [illegible]

Printed by
A Bose,
at The Indian Press, Ltd,
Benares Branch,
Benares

भूमिका

गत कई वर्षों मे गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवनी के सबध म अनेक नई बातों का पता लगा है और उसकी बहुत कुछ जाँच पडताल हुई है। मेरा विचार था कि इस सब सामग्री का उपयोग इडियन प्रेस द्वारा प्रकाशित सटीक रामचरितमानस के सशोधित सस्करण के छपने पर उसकी प्रस्तावना में करता, पर अभी उस सस्करण के छपने मे विलब जान पडता है। इधर हिंदुस्तानी एकेडेमी ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं गोस्वामी तुलसीदासजी का एक छोटा सा जीवन-चरित उनकी पुस्तकमाला के लिये लिख दूँ। इस बात को भी लगभग दो वर्ष होते हैं। अन्य कार्यों मे व्यस्त रहने के कारण मैं अब तक इस कार्य को न कर सका था। अब अपने योग्य शिष्य पडित पीतांबरदत्त बडथ्वाल की सहकारिता तथा सहयोग से यह जीवन-चरित तैयार हो गया और एकेडेमी द्वारा प्रकाशित हो रहा है। हम लोगों ने अब तक की उपलब्ध समस्त सामग्री को उपयोग में लाने तथा गोस्वामी तुलसीदासजी के एक सुशृखल जीवन-वृत्तांत को प्रस्तुत करने का उद्योग किया है, साथ ही उनके जीवन पर एक व्यापक दृष्टि डालने का प्रयास किया है। इसमे कहाँ तक सफलता हुई है, यह दूसरों के कहने की बात है।

काशी
२७-४-३१

श्यामसुंदरदास

अध्याय-सूची

चित्र सूची



गोस्वामी तुलसीदास

(१) आविर्भाव-काल

मध्य युग के हिंदू धर्मोद्धारकों तथा हिंदी कवियों में गोसाईं तुलसीदासजी का विशेष स्थान है। उनका जन्म ही मानों विनाशोन्मुख हिंदू धर्म की रक्षा के लिये हुआ था। असहिष्णु मुसलमानों के घोर अत्याचार से पीडित जनता की आशा-वृत्ति, सब दिशाओं के द्वार बंद पाकर, उस एकमात्र दिशा की ओर मुडा, जिसका द्वार बंद करना किसी के सामर्थ्य में नहीं है। भगवान् के अतिरिक्त और कौन निराशों की आशा का अवलंब हो सकता है? भारत में धर्मोपदेशकों की कभी कमी नहीं रही, पर धर्मोपदेशकों की वाणी इस आपत्काल में जनता को विशेष मनोमुग्धकारिणी प्रतीत हुई। उसी समय भक्ति की गंगा, एक छोर से दूसरे छोर तक, सारे देश को आप्लावित करती हुई, बडे वेग से बहने लगी।

भक्ति का जल एक ही घाट से नहा बहा। इसकी दो शाखाएँ फूट पडा—एक निर्गुण और दूसरी सगुण। निर्गुण शाखा विराग को लेकर चली। विरक्ति-जनक परिस्थितियों के कारण पहले पहल जनता को उसमें अधिक आकर्षण दिखाई दिया। हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य की मधुर भावना भी निर्गुणभाव का प्रत्यक्ष परिणाम थी। पर निर्गुण भक्ति शाखा जनता को जिस आनंद में निमज्जित करना चाहती थी वह सर्वथा अपार्थिव था। उच्च श्रेणी की व्यक्तिगत साधना के बिना उसको प्राप्त करना असंभव था। इसलिये निर्गुणधारा

जनसाधारण के धर्म का स्थान ग्रहण करने में असमर्थ थी। लोक धर्म परिपक्व और अपरिपक्व सभी प्रकार की चेतनाओं को साथ लेकर चलता है, पर निर्गुण मार्ग ऐसा नहीं कर सकता। निर्गुण के विस्तीर्ण क्षेत्र में भक्ति का जल अवश्य फैल जाता है, पर उसकी गहराई कम हो जाती है। हिंदू मुसलमान आदि सभी जातियाँ निर्गुण पथ में सम्मिलित होने के लिये स्वतंत्र था, पर सभी जातियों के सभी लोग स्वभावतः उसमें सम्मिलित नहीं हो सकते थे।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि निर्गुण पथ लोक विरोधी स्वरूप को लेकर चला था। ऐसा करना निर्गुण पथ के प्रवर्तकों के उद्देश्य से घोर अनभिज्ञता प्रकट करना है। निर्गुणियों ने लोक का उतना ही विरोध किया है जितना वह विरोध लोक-संरक्षण में सहायक हो सकता था तथा जितने से लोक अपनी पारमार्थिक सत्ता को न भूले। लोक का लोकत्व जहाँ लोकत्व ही के लिये है वहाँ वह स्वार्थ की वृत्तियों से अभिभूत हो जाता है। ऐसी दशा में न वह रक्षा किए जाने के योग्य रहता है और न इसी योग्य कि स्वयं अपनी रक्षा कर सके। धर्म अनुभूति का विषय है, किंतु लोकधर्म में अनुभूति के बिना भी धर्म की ओर प्रवृत्ति दिखाना एक सामाजिक गुण है। राजशक्ति की ओर से सारी जनता में एक ही धर्म के प्रसार के प्रयत्न के मूल में भी संभवतः लोक-संग्रह की ही भावना हो। परंतु अनुभूति हीन वैराग्य धर्म उस लोक विरोधी रूप में प्रकट होता है जो समाज की शृंखला को तोड़ देता है। निर्गुण पथ के प्रवर्तक कबीर साहब भी इस संभावना के लिये आँखें बंद किए हुए नहीं थे। गुरु बनकर समाज के सब बंधनों से परे हो जाने के इच्छुक अनुभूति हीन वाचक ज्ञानियों को ही लक्ष्य करके कबीर ने कहा था—

"पंडितो बाद बदन्ते झूठा। राम कहे दुनिया गत पावै,"

"छाया सारि धनाय कर इत वत थच्चुर काट,
कह कबीर कर लग जिए जूटी पत्तल चाट।"

ऐसे ज्ञानियों से तो संसारी भला, जो परमात्मा के भय से लोक-मर्यादा के घेरे में रहता है।

"ज्ञाता मूल गँवाइया आप भए करता।
ताते संसारी भला जो रहे डरता॥"

तुलसीदासजी के समय में यह दिखौआ ज्ञान बहुत फैल गया था। उन्होंने देखा कि—

"ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।"

लोक के लिये मर्यादित श्रुति-सम्मत धर्म के अंतर्गत जो भक्ति का मार्ग बताया गया है उसका तिरस्कार कर ये लोग नाना प्रकार के मनमाने पंथ चलाने लगे।

"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ संयुत बिरति बिबेक।
तेहि परिहरहिं बिमोह बस कल्पहिं पंथ अनेक॥"

वेद और पुराणों की निंदा करना इन लोगों का एक आवश्यक लक्षण हो चला था। इसी से ये लोग अपने को कृतकार्य समझते थे और वास्तविक भक्तिभाव से कोसों दूर रहते थे—

"साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि, निंदहिं बेद पुरान॥"

इस लोक द्रोही रूप का निराकरण आवश्यक था।

लोक धर्म की प्रतिष्ठा सगुण भक्ति-शाखा ही के द्वारा संभव थी। जिन परिस्थितियों ने जनता को भगवान् की शरण में जाने की प्रेरणा की थी उनका निराकरण हुए बिना जनता के विश्वास के लिये आधार नहीं मिल सकता था। त्रिगुणात्मक संसार के कष्टों का निर्गुण ब्रह्म भी सगुण साधन के ही द्वारा दूर कर सकता है। किसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म पर इच्छा का आरोप करने पर भी वह मनुष्य के

ही हाथों से पूर्ण हो सकती है। लोक-कल्याण के कार्यो मे प्रवृत्त करने और होनेवाली शक्ति मे हिंदू ब्रह्म का सगुण रूप देखते हैं। राम और कृष्ण न जाने कब से उनके भक्ति-भाव और विश्वास के आधार हो रहे हैं। फिर लोग राम और कृष्ण की ओर मुडे। वैष्णव भक्ति ने भगवान् के इन्हीं सगुण रूपों को लेकर सारे देश को परिप्लावित किया। निवार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण की भक्ति को और रामानद ने सीता राम की भक्ति को प्रधानता दी। भक्त कवियों ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सगुण धारा की कृष्ण भक्ति और राम-भक्ति दो प्रशाखाएँ हुई।

निर्गुण धारा तो निवृत्ति-मार्ग को लेकर चल ही रही थी, कृष्ण भक्ति ने भी प्रवृत्ति-मार्ग की उपेक्षा की। कृष्ण भी लोक कल्याण कारी रूप म प्रकट हुए थे। कर्म-मार्ग से विमुख होते हुए अर्जुन को उन्होंने अन्याय क दमन के लिये और न्याय की रक्षा क लिये युद्ध मे प्रवृत्त किया था और स्वय उसमे उनकी सहायता की थी। कृष्ण के इसी स्वरूप को देखकर सजय ने बरबस दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र से यह कटु सत्य कहा था—

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिमम ॥

गीता १८, ७८।

इस रूप की ओर कृष्ण-भक्ति ने दृष्टि नहीं ठहराई। कृष्ण की बाल क्रीडाओं और रास लीलाओं मे ही उसने अपनी कृतकार्यता समझी। सूर इत्यादि कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण के जीवन के जिस आनद विनोदी अश को सामने रखा उसमे मनुष्य की वासना को ब्रह्मा नद की अपेक्षा अधिक तृप्ति अवश्य मिली, पर वह लोक के अधिक काम का न हुई। आगे चलकर हिंदी कविता म कृष्ण और राधा सदा के लिये विलासी नायक-नायिका का स्थान ग्रहण करने क

लिये घसीटे गए। लोक-संग्रह के भावों के स्थान पर उसने जनता को मुगलों की विलासप्रियता की नकल करने की योग्यता प्रदान की। जिस शक्ति के कारण मुसलमानों ने भारत के वैभव को अपनाया था और अब वे बेगटके विलासी हो रहे थे, उसके उत्पादन और सदुपयोग की विधि के ज्ञान की आवश्यकता अभी तक बनी हुई थी।

जिस समय भारत के वैभव पर लुब्ध मुसलमानों ने पश्चिमोत्तर से इस देश पर आक्रमण करना आरंभ किया था, उस समय उससे उतना भय नहीं था, क्योंकि वह बाहरी आक्रमण था और उसके प्रतिरोध का उपाय भी हो सकता था। भारतीयों ने अंत तक उसका उपाय किया भी। उनके उपाय के विफल होने पर भी मुसलमानों की विजय केवल शारीरिक जय थी। भारतीयों की आत्मा अब तक अजेय सिद्ध हुई। भारत की आत्मा को जीतने का उपक्रम मुगलों के समय से हुआ। सब अंडों को एक ही साथ पाने की आशा से सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी को काटने की मूर्खता का अनुभव शेरशाह को पहले पहल हुआ। अकबर ने उसकी नीति को चरम सीमा तक पहुँचाया और भारतीयों की आत्मा की विजय का श्रीगणेश हुआ। पश्चिमोत्तर के स्थूल आक्रमण ने सूक्ष्म रूप धारण कर भारत के केंद्र दिल्ली और आगरे को अपना प्रधान स्थान बना लिया। स्वाधीन नेता हिंदुओं की बेड़ियाँ सोने की कर दी गई और वे अब उन्हें गहने समझकर चाह से पहनने लग गए। मानसिंह सरीखे कई वीरश्रेष्ठ राजा अकबर बादशाह की नौकरी करना अपना सौभाग्य समझने लगे। नौकरी और शिक्षा के बीच में वह अनिष्टकारी संबंध स्थापित हो गया जो आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन का अभिशाप हो रहा है। शिक्षा से संस्कृति का संबंध न रह गया था। माता पिता अपने बालकों को वही

ही हाथों से पूर्ण हो सकती है। लोक-कल्याण के कार्य में प्रवृत्त करने और होनेवाली शक्ति में हिंदू ब्रह्म का सगुण रूप देखते हैं। राम और कृष्ण न जाने कब से उनके भक्ति-भाव और विश्वास के आधार हो रहे हैं। फिर लोग राम और कृष्ण की ओर मुड़े। वैष्णव भक्ति ने भगवान् के इन्हीं सगुण रूपों को लेकर सारे देश को परिप्लावित किया। निंबार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने कृष्ण की भक्ति को और रामानंद ने सीता राम की भक्ति को प्रधानता दी। भक्त कवियों ने उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सगुण धारा की कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति दो प्रशाखाएँ हुईं।

निर्गुण धारा तो निवृत्ति-मार्ग को लेकर चली ही थी, कृष्ण भक्ति ने भी प्रवृत्ति-मार्ग की उपेक्षा की। कृष्ण भी लोक कल्याण कारी रूप में प्रकट हुए थे। कर्म मार्ग से विमुख होते हुए अर्जुन को उन्होंने अन्याय के दमन के लिये और न्याय की रक्षा के लिये युद्ध में प्रवृत्त किया था और स्वयं उसमें उनकी सहायता की थी। कृष्ण के इसी स्वरूप को देखकर संजय ने बरबस दुर्योधन के पिता धृतराष्ट्र से यह कटु सत्य कहा था—

यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

गीता १८, ७८।

इस रूप की ओर कृष्ण-भक्ति ने दृष्टि नहीं ठहराई। कृष्ण की बाल क्रीडाओं और रासलीलाओं में ही उसने अपनी कृतकार्यता समझी। सूर इत्यादि कृष्ण भक्त कवियों ने कृष्ण के जीवन के निम्न आनंद-विनोदी अंश का सामान रखा उससे मनुष्य की वासना का ब्रह्मा-नंद का अपेक्षा अधिक तृप्ति अवश्य मिली, पर वह लोक के अधिक काम की न हुई। आगे चलकर हिंदी कविता में कृष्ण और राधा सदा के लिये विलासी नायक-नायिका का स्थान ग्रहण करने के

लिये घसीटे गए। लोक-संग्रह के भावों के स्थान पर उसने जनता को मुगलों की विलासप्रियता की नकल करने की योग्यता प्रदान की। जिस शक्ति के कारण मुसलमानों ने भारत के वैभव को अपनाया था और अब वे वैभव के विलासी हो रहे थे, उसके उत्पादन और सदुपयोग की विधि के ज्ञान की आवश्यकता अभी तक बनी हुई थी।

जिस समय भारत के वैभव पर लुब्ध मुसलमानों ने पश्चिमोत्तर से इस देश पर आक्रमण करना आरंभ किया था, उस समय उससे उतना भय नहीं था, क्योंकि वह बाहरी आक्रमण था और उसके प्रतिरोध का उपाय भी हो सकता था। भारतीयों ने अंत तक उसका उपाय किया भी। उनके उपाय के निष्फल होने पर भी मुसलमानों की विजय केवल शारीरिक जय थी। भारतीयों की आत्मा अब तक अजेय सिद्ध हुई। भारत की आत्मा को जीतने का उपक्रम मुगलों के समय में हुआ। सब अंडों को एक ही साथ पाने की आशा से सोने के अंडे देनेवाली मुर्गी को काटने की मूर्खता का अनुभव शेरशाह को पहले पहल हुआ। अकबर ने उसकी नीति को चरम सीमा तक पहुँचाया और भारतीयों की आत्मा की विजय का श्रीगणेश हुआ। पश्चिमोत्तर के स्थूल आक्रमण ने सूक्ष्म रूप धारण कर भारत के केंद्र दिल्ली और आगरे को अपना प्रधान स्थान बना लिया। स्वाधीन नेता हिंदुओं की बेड़ियाँ सोने की कर दी गई और वे अब उन्हें गहने समझकर चाह से पहनने लग गए। मानसिंह सरीखे कई वीरश्रेष्ठ राजा अकबर बादशाह की नौकरी करना अपना सौभाग्य समझने लगे। नौकरी और शिक्षा के बीच में वह अनिष्टकारी संबंध स्थापित हो गया जो आज भी हमारे राष्ट्रीय जीवन का अभिशाप हो रहा है। शिक्षा से संस्कृति का संबंध न रह गया था। माता-पिता अपने बालकों को वही

शिक्षा देना पर्याप्त समझते थे जिससे वे अपनी उदर-पूर्ति कर सकें। तुलसीदासजी को यह बात विशेष अखरी—

"मात पिता बालकन्ह बालावहि।
उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहि॥"

हिंदुओं ने भी मुसलमानी बाना पहन लिया। जहाँ तक केवल मुल्ला लोग हिंदू धर्म पर आक्रमण करते थे, वेद-पुराणों की निंदा करते थे वहाँ तक तो विशेष चिंता की बात न थी। परंतु हिंदुओं ने जब मुसलमानों से इस बात को सीख लिया तब वर्णाश्रम की व्यवस्था और निगमों के अनुशासन में व्यवधान पड़ने का पूरा आयोजन हो गया, जिससे हिंदू धर्म का नींव हिल जाती। निर्गुणियों के वर्णाश्रम धर्म और निगमागम का विरोध बहुत अंश में मुसलमानी प्रभाव का परिणाम था। मुल्लाओं की नक़ल करके हिंदू भी वर्णाश्रम और वेद पुराणों की निंदा करना सभ्यता का चिह्न समझने लग गए—

'बरन धरम नहि आश्रम चारी।
श्रुति विरोध रत सब नर नारी॥"

प्रतिष्ठित राज घरानों की लड़कियाँ अकबर के हरम की शोभा बढ़ाने लगीं। कट्टर हिंदू की दृष्टि में इससे अधिक हीनता का दृष्टांत हो ही नहीं सकता था। महाराणा प्रताप के अकबर को उसका कृपा करने पर मानसिंह लज्जित होने के बदले युद्ध हुआ था और परिणाम हुआ हल्दीघाटी की लड़ाई। हल्दीघाटी की लड़ाई में हिंदुओं का विदेशी शक्ति के विरोध में अस्त्र ग्रहण करना उस सूक्ष्म सांस्कृतिक युद्ध का स्थूल व्यक्त रूप था जिसमें हिंदू हिंदुत्व पर आक्रमण कर रहे थे। पर यह विरोध देशव्यापी नहीं था। इसमें राष्ट्रीय भावना का अभाव था। सूक्ष्म भाव क्षेत्र में होनेवाले इस सांस्कृतिक संघर्ष में हिंदुत्व की अपनी रक्षा के लिये प्रताप से भी बड़े योद्धा की आवश्यकता थी, जो केवल कुछ राजपूतों

को ही नहीं, प्रत्युत संपूर्ण हिंदू समाज को अपनी रक्षा के लिये संगठित करता। तुलसीदास के रूप में वह योद्धा प्रकट हुआ। परंतु यह न समझना चाहिए कि तुलसीदासजी को धर्म के नाम पर वैमनस्य बढ़ाना अभीष्ट था। इसके विपरीत उन्होंने कहीं भी इस बात का आभास नहीं आने दिया है, क्योंकि व जानते थे कि तामसिक वृत्तियों को जागरित कर जो स्फूर्ति उत्पन्न की जाती है वह क्षणस्थायिनी होती है, और जाते जाते अपने आश्रय को और भी निर्बल बनाकर छोड़ जाती है। इसके अतिरिक्त धर्म-विरोध हिंदू धर्म के सिद्धांतों के प्रतिकूल है। इसी लिये गीता में कहा है कि जो धर्म और धर्मों का विरोधी हो वह धर्म नहीं, अधर्म है। तुलसीदासजी ने जिस मार्ग का अवलंबन किया उसमें समय की आवश्यकता और न्याय संगतता दोनों का ध्यान रखा गया था। स्वयं बल का संपादन कर विरोधी के आक्रमणों को अटल सहते हुए उनकी व्यर्थता प्रदर्शित करना वे उचित समझते थे, जिससे वह स्वयमेव अपने विरोध को छोड़ दे।

इसके लिये यह आवश्यक था कि हिंदू समाज का पतितावस्था से उद्धार किया जाय। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, हिंदुओं की परमुखापेक्षिता के कारण उनका जो पतन हुआ था उसने जीवन के सभी विभागों में व्याघात डाला था। समाज में उच्छृंखलता बढ़ गई थी। शील की विगर्हणा और विलासिता की वृद्धि हो रही थी। असहिष्णु विदेशी राजाओं का तो कहना ही क्या, स्वयं हिंदू राजा भी प्रजा के धन के लालची थे। वे प्रजा की चारित्रिक और सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना अपना धर्म नहीं समझते थे—

"गोंड गँवार नृपाल कलि, जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल॥

द्विज श्रुति बचक, भूप प्रजासन।

× × × ×

नृप पाप परायन धर्म नहीं।

करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥"

जो ब्राह्मण और सन्यासी धर्म के स्तंभ समझे जाते थे वे ही अपने कर्तव्य से भ्रष्ट होकर धर्म के नाश पर तुले हुए थे—

"बिप्र निरच्छर लोलुप कामी।

निराचार सठ वृसली स्वामी॥

+ × + +

बहुदाम सँवारहिं धाम जती।

बिषया हरि लीन्ह नहीं बिरती॥"

जहाँ पवित्रता का समावेश होना चाहिए था वहाँ अनाचार होने लगा था—

"सुरसदननि तीरथपुरनि निपट कुचाल कुसाज।"

हिंदू समाज को इस शोचनीय दशा से उबारने के लिये तुलसीदासजी ने उसके सामने रामचंद्रजी का पुनीत आदर्श रखा। रामचंद्रजी के चरित्र के द्वारा उन्होंने परमात्मा का वह रूप जनता के सामने रखा जिसने जन-साधारण की धार्मिक वासना को तृप्त करते हुए उनको लोक-मर्यादा पालन और शील-संपादन आदि गुणों की मधुर शिक्षा दी। रामभक्ति के द्वारा उन्होंने उनके हृदय में वह आशा प्रदीप्त की जिसके द्वारा वे परमात्मा को पाप का भार उतारने के लिये और धर्म का प्रसार करने के लिये पृथ्वी पर आता हुआ देखें। धर्म के इसी शक्ति-शाली सौंदर्य को राम में देखकर राम-मय होकर ही आज हिंदू जाति जीवित है।

हम पहले कह चुके हैं कि भक्ति की दो प्रमुख शाखाएँ हुईं—एक निर्गुण और दूसरी सगुण। निर्गुण शाखा में ज्ञान-मार्ग का

उद्घाटन करनेवाले कबीर दादू आदि संत हुए। इसी शाखा की एक दूसरी अंतर्शाखा प्रेममार्गी सूफी कवियों के रूप में प्रकट हुई, जिसने रहस्यमयी वाणी द्वारा आत्मा का परमात्मा से संबंध प्रतिपादित किया और उसमें लीन होने की उसकी उत्कट कामना का प्रदर्शन नायक-नायिका के लौकिक प्रेम की कहानी के रूप में प्रदर्शित किया। सगुण शाखा की दो उपशाखाएँ कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति के रूप में प्रवाहित हुईं। देश की विशेष परिस्थितियों के कारण साहित्य ने अब राजकीय आश्रय को छोड़कर अपने विकास के लिये भक्ति का अवलंब ग्रहण किया था। ज्ञानाश्रयी निर्गुण शाखा, जिसके लिये संसार भ्रममात्र था, साहित्य के विकास के लिये अधिक उपयुक्त न सिद्ध हुई, क्योंकि वाग्विलास भी उसके लिये माया ही था। निर्गुणियों के ज्ञानीपन की शुष्कता काव्य-सरिता में भी प्रतिबिंबित हुई। प्रेम-मार्गी शाखा ने जगत् को बिल्कुल भ्रम न मानकर उसमें परमात्मा की प्रातिभासिक सत्ता देखी जिससे वाणी के विस्तार के लिये जगह निकल आई। इस प्रकार सूफी प्रेममार्गी शाखा निर्गुण की अपेक्षा सगुण शाखा के अधिक मेल में रही। काव्य के समुचित विकास के लिये विस्तृत क्षेत्र सगुण शाखा ने ही तैयार किया। कृष्ण के प्रेम में मस्त होकर जयदेव, उमापति आदि ने जो तानें छेड़ीं उन्होंने वाणी के पूर्ण वैभव को दिखलाकर जनता के मन को मोह लिया। इन तानों के मेल में अपना सुर मिलाकर लीलापुरुष कृष्ण की विहार-स्थली से सूरदास आदि की जो आठ मधुर मुरलियाँ बजीं उनसे मंत्र-मुग्ध सी होकर जनता ने अपना दुखड़ा भुला दिया। राम-भक्ति ने इस मधुर स्रोत में कर्मण्यता की धारा मिला दी। तुलसीदास रामभक्ति शाखा के सबसे महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उन्होंने केवल रामचंद्र के सौंदर्य के वर्णन में ही अपनी वाणी का विलास नहीं दिखाया, प्रत्युत उनकी

अनत शक्ति को भी दृष्टि के सामने रखा, जिसके साथ अनत शील का सयोग होने के कारण वह समाज की स्थिति रक्षा मे सर्वथा उपयोगिनी सिद्ध हुई। तुलसीदासजी के काव्यों म वाणी की शक्ति का सपूर्ण चमत्कार प्रकट हुआ है। इसी अद्भुत और असाधारण प्रतिभा के कारण उन्होंने देश और काल की क्षुद्र सामाओं का अतिक्रमण किया है, जिससे विश्व भर के विद्वान् उनको अपनी अपनी श्रद्धा पुष्पाजलि चढाने के लिये प्रतिस्पर्द्धा दिखला रहे हैं।

---

(२) जीवन-सामग्री

आजकल आत्म-चरित लिखने की प्रथा सी चल गई है, परन्तु दीनता-प्रिय भक्तजन अपने जीवन की घटनाओं को तुच्छ समझकर उनकी ओर ध्यान नहीं देते। कोई भी ऐसा काम करना जिससे नाम मात्र को भी आत्मश्लाघा प्रगट हो वे गर्हित समझते हैं। ऐसी दशा में यह आशा करना कि भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी की रचनाओं से उनके जीवन-चरित पर बहुत प्रकाश पड़ेगा, निष्फल हो जायगा। अपनी दीनता दिखाने के लिये उन्होंने स्थान स्थान पर जो कुछ अपने विषय में कहा भी है उस पर मनमानी घटनाओं को बैठाना अनुचित है। वे भावुक उद्रेक मात्र भी हो सकते हैं और यदि घटनात्मक भी हुए, तो भी जब तक इसमें कोई अन्य साक्ष्य नहीं मिल जाता तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि उनके आधार पर किसी सच्ची घटना का निर्माण हमारे अनुमान के द्वारा हो ही जायगा। ऐसा करने से कभी कभी वीभत्स असत्य को भी आश्रय मिल जाता है जिसका सब से जघन्य उदाहरण किन्हीं मिश्रजी का सन् १९१८ के मार्च महीने की सरस्वती में प्रकाशित "कवित्त रामायण में गोस्वामी तुलसीदास का आत्मचरित" शीर्षक लेख है, जिसमें

"मातु पिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।

× × × ×

जाया कुल मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को ॥"

आदि अवतरणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि 'तुलसीदास किसी पाप-कर्म की सन्तान थे।' इसलिये तुलसी-

दासजी के जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिये अन्य उद्‌गमो का ही सहारा लेना पडता है।

तुलसीदासजी का सबसे पहला वर्णन नाभादासजी के भक्त-माल म है। नाभादासजी गोसाईंजी के समकालीन थे। उन्होने उनके लिये वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोस्वामी गिरिधरजी का वर्णन भी भक्त-माल मे वर्तमानकालिक क्रिया में किया गया है—'श्री वल्लभजा के वश में सुरतरु गिरिधर भ्राजमान।' विट्ठलनाथजी सवत् १६४२ में गोलोक-वासी हुए थे। इसा वर्ष म गिरिधरजी को श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती मिली होगी। इसलिये नाभाजी ने भक्तमाल को १६४२ के लगभग ही बनाया होगा। निस्सदेह इस समय तुलसीदासजी भी वर्तमान थ। उनकी मृत्यु सर्वसम्मति से सवत् १६८० मे हुई और उनके जन्म के विषय म जितने भी मत हैं, सबके अनुसार उनका जन्म १६४२ स बहुत पहले हो गया था। प्रसिद्ध है कि नाभाजी तुलसादासजा पर बडी श्रद्धा रखते थे और एक बार आदर भाव म उनके दर्शनों के लिये काशी भी आए थे। पर, ऐसा किवदती है कि, उम समय तुलसादासजी पूजा कर रहे थे और उनस न मिल सके। इस पर खिन्न होकर नाभादासजी चले गए। कहते हैं कि जब तुलसादासजी का यह ज्ञात हुआ तब वे बडे दुखी हुए और नाभादासजी स मिलने के लिय चल पडे। जब तुलसीदासजी उनके स्थान पर पहुँचे उम समय वहाँ साधुओं का भडारा हो रहा था। तुलसादासजी साधुओं का पक्ति के अत में चुपचाप जाकर बैठ गए। यह बात ज्ञात होन पर भी नाभादासजा ने कुछ उपेक्षा का भाव प्रदर्शित किया। परासते हुए जब वे तुलसादासजी के पास पहुँचे तो पूछने लगे कि आपको किस पात्र म प्रसाद दूँ। तुलसीदासजा न एक साधु की जूती उठाकर कहा कि इससे

पवित्र दूसरा पात्र हो नहीं सकता। इस पर नाभादासजी ने तुलसीदासजी को गले से लगा लिया और कहा कि आज मुझे भक्तमाल का सुमेर मिल गया। वे अवश्य तुलसीदासजी के संबंध में बहुत कुछ तथ्य की बातें जानते रहे होंगे, पर अभाग्यवश उनके वर्णन इतने संक्षेप से लिखे गए हैं कि उनमें प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं आ पाया है। प्रत्येक भक्त का वर्णन एक एक छप्पय में किया गया है। तुलसीदासजी के विषय में उन्होंने लिखा है—

"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो॥
त्रेता काव्य निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुखदेन बहुरि वपु धरि (लीला) विस्तारी।
रामचरन रस मत्त रहत अहनिसि व्रतधारी॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो॥"

इससे अधिक से अधिक यही पता चल सकता है कि तुलसीदास ने वाल्मीकि के समान समाज का कोई उपकार किया था अर्थात् रामायण रचा थी जिससे वे कलिकाल के वाल्मीकि हुए, परंतु इससे तुलसीदासजी के विषय में हमारे ज्ञान की कुछ भी वृद्धि नहीं होती।

ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं नाभाजी को अपने वर्णनों की संक्षिप्तता खटकती थी। उनकी इच्छा थी कि कोई उनका विस्तार करे। उनके शिष्य बालक प्रियादास ने उनकी यह इच्छा अपनी गाँठ बाँधी और योग्य होने पर संवत् १७६९* में उसकी पूर्ति के लिये उस पर अपनी टीका लिखी—

---

* संवत प्रसिद्ध दस सात सत उनहत्तर,
फाल्गुन मास बदी सप्तमी बिताइ कै॥

"नाभा जू को अभिलाष पूरन लै कियो मैं तो

× × × ×

ताही समय नाभा जू ने आज्ञा दई, लई धारि,
टीका विस्तारि भक्तमाल की सुनाइए।"

वास्तव मे प्रियादास की टीका, टीका नहीं बल्कि भक्तमाल के भक्तों के चरित्र विस्तार का प्रयास है। जो कुछ साधु संतो से उन्होंने सुना था उसी को अपनी टीका मे लिखा है—

"मति अनुसार कह्यो लह्यो मुख संतन के।"

ग्यारह कवित्तों मे प्रियादास ने तुलसीदास का चरित्र लिखा है। ये कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

"तिया सों सनेह बिन पूछे पिता गेह गई
भूली सुधि देह भजे वाही ठौर आए हैं।
बधू अति लाज भई, रिस सों निकस गई—
'प्रीति राम नई तन हाड़ चाम छाए हैं' ॥
सुनी जब बात मानो ह्वै गयो प्रभात वह
पाछे पछिताय तजि काशीपुर धाए हैं।
कियो तहाँ बास प्रभु सेवा लै प्रकास कीनो
लीनो दृढ़ भाव नैन रूप के तिसाए हैं ॥ ५०० ॥
शौच जल शेष पाइ भूत हू विशेष कोऊ
बोल्यो सुख मानि हनुमान जू बताए हैं।
'रामायन कथा सो रसायन है कानन को
आवत प्रथम, पाछे जात, घृणा छाए हैं ॥'
जाइ पहिचानि संग चले उर आनि आए
बन मध्य जानि धाइ पाइ लपटाए हैं।
करैं तिरस्कार, कही 'सकोगे न टारि मैं तो
जाने रस सार' रूप धरयो जैसे गाए हैं ॥ ५०१ ॥

'मांगि लीजे वर' कही—'दीजै राम भूप रूप
अतिही अनूप नित नैन अभिलाखिए'।
कियो लै संकेत वाहि दिन ही सों लाग्यो हेत,
आइ सोइ समै चेत कवि चाखिए॥
आए रघुनाथ साथ लछुमन चढे घोडे
पर रंग बोरे हरे कैसे मन राखिए।
पाछे हनुमान आए, बोले 'देखे प्रान प्यारे'?
'नेकु न निहारे मैं तो' 'भले फेरि' भाखिए॥ ५०२॥

हत्या करि विप्र एक तीरथ करत आयो
कहै मुख 'राम' हत्या टारिए हत्यारे को।
सुनि अभिराम नाम धाम में बुलाइ लियो,
दियो लै प्रसाद कियो सुद्ध गायो प्यारे को॥
भइ द्विज सभा, कहि बोलिकै पठायो आप,
'कैसे गयो पाप? संग लै कै जैए न्यारे को।'
'पोथी तुम बाँचो हिए भाव नहि साँचो अजू,
तात मति काँची दूर ना करे अँध्यारे को'॥ ५०३॥

देखी पोथी बाच नाम महिमा हू कही साँच
ए पै हत्या करै कैसे तरै कहि दीजिए।
आवे जो प्रतीति कही 'याकै हाथ जेवैं जब
शिव जू के बैल तब पंगति मे लीजिए'॥
थार में प्रसाद दियो चले जहाँ पान कियो
बोले आप नाम के प्रसाद मति भीजिए।
जैसी तुम जानी तैसी कैसे कै बखानो अहो
सुनि कै प्रसन्न पायो जै जै धुनि रीझिए॥ ५०४॥

आए निसि चोर चोरी करन हरन धन
देखे श्यामघन हाथ चाप सर लिए हैं।

जब जब आवै बान साध डरपावै ए तो
अति मँडरावै ए पै वलि दूरि किए हैं ॥
भोर आय पूछे 'अजू साँवरो किसोर कौन'
सुनि कर मौन रहे आसु डारि दिए है ।
दई सब लुटाइ जानि चौकी राम राइ दई
लई उ ह सिच्छा सुद्ध भए हिए हैं ॥ १०५ ॥
कियो तनु त्रिय त्याग लागी चली संग तिया
दूर ही ते देखि कियो चरन प्रनाम है ।
बोले यो 'सुहागवती' 'मरयो पति होहुँ सति'
'अब तो निकसि गई जाटु सेवो राम है' ॥
बोलि कै कुटब कही 'जो पै भक्ति करो सही'
गही तब बात जीव दियो अभिराम है ।
भए सब साध ब्याधि मेटी लै विमुख ताकी
जाकी बास रहै तौन सूझै श्याम धाम हैं ॥ १०६ ॥
दिल्लीपति बादशाह अहिदी पठाए लैन
ताको सो सुनायो सूनै विप्र ज्यायो जानिए ।
देखिबे को चाहैं नीके सुख सो निबाहे आइ
कही बहु विनय गही चल मन आनिए ॥
पहुँचे नृपति पास आदर प्रकास कियो
दियो उच्च आसन लै बाल्यो मृदु बानिए ।
दीजै करामाति जग ख्यात सब मात किए
कही झूठ बात, एक राम पहचानिए ॥ १०७ ॥
दयौ 'राम कैस ?' कहि कैद किए किए हिए—
'कृपाल हनुमान जू दयाल हो' ।
ताही समै फैल गए काटि काटि कपि नए
नोच तन खैंच चीर भयो यों बिहाल हा ॥

फेरैं खेट मारैं चोट किए डारैं लोट पोट
लीजै कौन ओट जाइ मानो प्रलय काल हो ।
भईं तब आँखें दुख सागर को चाखें अब
वेई हमैं राखैं भाखैं 'वारौ धन माल हो' ॥ ४०८ ॥
आइ पाइ लिए तुम दिए हम प्रान आवैं
आप समझावैं करामाति।नैकु लीजिए ।
लाजि दबि गयो नृप तब राखि लियो कह्यौ
भयो घर रामजू को वेगि छाड़ि दीजिए ॥
सुनि तजि दियो और कह्यौ लैकै कोट नयो
अब हूँ रहै कोउ वामैं तन छीजिए ।
कासी जाइ वृंदावन आइ मिले नाभाजू सों
सुन्यो हो कवित्त निज रीझ मति भीजिए ॥ ४०९ ॥
मदन गोपालजू को दरसन करि कही 'सही
राम इष्ट मेरे दृग भाव पागी है' ।
वैसोई सरूप कियो दियो लै दिखाई रूप
मन अनुरूप छवि देख नीकी लागी है ॥
काहू कह्यो कृष्णअवतारी जू प्रसंस महा
राम अंश सुनि बोले मति अनुरागी है ।
'दसरथ सुत जानों अनूप मानो
हँसता बताइ रति कोटि गुनी जागी है' ॥ ४१० ॥"

आज से कुछ वर्ष पूर्व तक जो कुछ तुलसीदासजी के जीवन-चरित के विषय में लिखा जाता था वह विशेषकर प्रियादास की टीका मे दिए हुए कथानकों अथवा जनश्रुतियों के आधार पर ही था । इन्हीं के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने 'भक्त-कल्पद्रुम' मे, महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने 'भक्त-माल' में और महाराज रघुराज-सिंह ने 'राम-रसिकावली' मे तुलसीदासजी का चरित्र लिखा ।

पंडित रामगुलाम द्विवेदी, पंडित सुधाकर द्विवेदी और डाक्टर ग्रिअर्सन तथा अन्य कई आधुनिक विद्वानों ने तुलसीदासजी के विषय में बहुत कुछ अनुसंधान की प्रवृत्ति दिखलाई। पंडित रामगुलामजी ने अपने सु-संपादित रामचरितमानस की भूमिका के रूप में तुलसीदासजी का जीवन चरित लिखा था। सुधाकरजी और ग्रिअर्सन साहब की खोजों का परिणाम समय समय पर इंडियन ऐंटिक्वेरी में निकलता रहा। मुंशी बैजनाथजी और पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने भी किंवदंतियों को एकत्र कर उनके जीवन-चरित की कुछ सामग्री प्रस्तुत की है।

परंतु इतने पर भी तुलसीदासजी के जीवनचरित के लिये कोई निश्चित आधार न मिला। संवत् १९६९ की ज्येष्ठ मास का 'मर्यादा' मासिक पत्रिका में बाबू इंद्रदेवनारायण ने तुलसीदासजी के एक बृहत्काय जीवनचरित की सूचना प्रकाशित की। यह महाकाव्य गोसाईंजी के शिष्य बाबा रघुबरदास का लिखा बताया गया था। इंद्रदेवनारायणजी ने इस ग्रंथ का परिचय यों दिया था—

"इस ग्रंथ का नाम 'तुलसीचरित' है। यह बड़ा ही बृहत् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा। इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—

चौ०—एक लाख तेंतीस हजारा। नौ सै बासठ छंद उदारा॥

यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवनचरित विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरस और मनोरंजक है। यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुबरदासजी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह 'तुलसी-चरित' बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इसमें प्राचीन समय की बातों का विशेष परिज्ञान होता है।"

किंतु खेद है कि इस बृहत् ग्रंथ के एक लाख तेतीस हजार नौ से बासठ उदार छंदों में से हमें केवल अवध-खंड के ४२ चौपाइयों और ११ दोहों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्हें स्वयं इंद्रदेव-नारायणजी ने उक्त लेख में दे दिया है। ये दोहे-चौपाइयाँ इस पुस्तक के पहले परिशिष्ट में दी गई है। शेष 'उदार' छंदों को जगत् के सामने रखने की उदारता उन्होंने नहीं दिखाई है। उक्त ग्रंथ को भी स्वयं इंद्रदेवनारायणजी के अतिरिक्त और किसी लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक ने नहीं देखा है। संभवतः वे उसकी जाँच कराना पसंद नहीं करते। उस विषय के पत्रालाप से भी उन्हें आना-कानी है। इसलिये यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह ग्रंथ कहाँ तक प्रामाणिक है। इस ग्रंथ के जो छंद छप चुके हैं, उनमें तुलसीदासजी के जीवन की जो घटनाएँ दी हुई हैं वे आज तक के विचारों में बहुत उलट फेर उपस्थित करती हैं। इंद्रदेव-नारायणजी के प्रांतीय स्वजन लाला शिवनंदनसहाय ने इस ग्रंथ की प्राप्ति के विषय में जो कुछ लिखा है वह मन में संदेह उत्पन्न करता है। वे लिखते हैं—

'हमें ज्ञात हुआ है कि केसरिया (चंपारन) निवासी बाबू इंद्रदेवनारायण को गोसाईंजी के किसी चेले की, एक लाख दोहे चौपाइयों में लिखी हुई, गोसाईंजी की जीवनी प्राप्त हुई है। सुनते हैं गोसाईंजी ने पहले उसके प्रचार न होने का शाप दिया था, किंतु लोगों के अनुनय विनय से शाप मोचन का समय संवत् १९६७ निर्धारित कर दिया। तब उसकी रक्षा का भार उसी प्रेत को सौंपा गया जिसने गोसाइंजी को श्रीहनुमानजी से मिलने का उपाय बताकर श्रीरामचंद्रजी के दर्शन का उपाय बताया था। वह पुस्तक भूटान के किसी ब्राह्मण के घर पड़ी रही। एक मुंशीजी उसके बालकों के शिक्षक थे। बालकों से उस पुस्तक का पता पाकर उन्होंने उसकी पूरी नकल कर डाली। इस गुरुतर अपराध से क्रोधित हो वह ब्राह्मण उनके वध के निमित्त उद्यत

हुआ तो मुंशीजी वहाँ से चपत हो गए। वही पुस्तक किसी प्रकार अलवर पहुँची और फिर पूर्वोक्त बाबू साहब के हाथ लगी। क्या हम अपने स्वजातीय इन मुंशीजी की चतुराई और बहादुरी की प्रशंसा न करेंगे? उन्होंने सारी पुस्तक नकल कर ली, तब तक ब्राह्मण देवता के कानों तक खबर न पहुँची, और जब भागे तो अपने बोरिए बस्ते के साथ उस बृहत्काय ग्रंथ को भी लेते हुए। इसके साथ ही क्या अपने दूसरे भाई को यह अश्रुतपूर्व और अलभ्य पुस्तक हस्तगत करने पर बधाई न देनी चाहिए? पर प्रेत ने उसकी कैसे रक्षा की और वह उस ब्राह्मण के घर कैसे पहुँची? यह कुछ हमारे संवाद दाता ने हमें नहीं बताया। जो हो, जिस प्रेत की बदौलत सब कुछ हुआ, उसके साथ गोसाईंजी ने यथोचित प्रत्युपकार नहीं किया। बनगडी तथा केशवदास के समान उसके उद्धार का उपयोग तो भला करते, उलटे उसके माथ ३०० वर्ष तक अपनी जीवनी की रक्षा का भार टाल दिया।''

अभी थोड़े दिन हुए, गोसाईंजी के एक और शिष्य बाबा वेणीमाधवदास का लिखा एक ग्रंथ मिला है जिसकी जाँच होने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं है। इस ग्रंथ का नाम 'मूल गोसाईं चरित' है। इसको जनता के समक्ष प्रकाशित करके उनाव के वकील पंडित रामकिशोर शुक्ल, तुलसी-प्रेमियों के हार्दिक धन्यवाद के भाजन हुए हैं। वकील साहब ने इसे अपने संपादित रामचरितमानस के आरंभ में दिया है, जो नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में प्रकाशित हुआ है। मूल गोसाईं चरित में रचना-काल और ग्रंथोद्देश्य यों दिया है—

'सोरह सै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरच्यो यहि निज पाठ हित वेणीमाधवदास॥''

पंडित रामकिशोर शुक्ल को वेणीमाधवदास का प्रति कनकभवन अयोध्या के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई था। महात्माजी की कृपा से उनकी प्रति को देखने का हमें भी सौभाग्य मिला है। जिस प्रति से यह प्रति लिखी गई थी वह मौजा मरूप,

पोस्ट ओवरा, जिला गया के पंडित रामाधारी पांडय के पास है। पांडेयजी ने लिखा है कि यह प्रति उनके पिता को गोरखपुर मे किसी से प्राप्त हुई थी। तब से वह उनके यहाँ है और नित्यप्रति उसका पाठ होता है। पांडेयजी इस प्रति को पूजा म रखते हैं, इमसे वह बाहर तो नहीं जा सकती, परन्तु यदि कोई उसे वहाँ जाकर देखना और जाँचना चाहे तो ऐसा कर सकता है।

जाँच कराने से ज्ञात हुआ है कि यह प्रति पुराने देशी कागज पर देवनागरी अक्षरों मे लिखी है। इसमे ६१ × ५१" के आकार के ५४ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ मे १२ पंक्तियाँ हैं। ग्रथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह प्रति सवत् १८४८ की विजयादशमी को समाप्त हुई थी। इसे किसी पंडित रामरक्षामणि और उनके पुत्र रमादास ने लिखा था।

बाबा वेणीमाधवदास पसका गाँव के रहनेवाले थे। उन्होंने 'गोसाईं चरित' नाम से गोसाईंजी का एक महत् जीवनचरित पद्य-बद्ध करके लिखा था, जो अब कहीं नहीं मिलता। मूल गोसाईं-चरित इसी बड़े चरित का सक्षिप्त सस्करण जान पडता है। इसे वेणीमाधवदास ने नित्य पाठ के लिये रचा था। गोसाईं-चरित का सबसे पहला उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंहसरोज' मे किया था। उन्होंने स्वय इसे देखा था। पर इस 'देखने' मे ध्यानपूर्वक पढना भी सम्मिलित है, इसमे हमें सदेह है, क्योंकि गोसाईंजी के जन्म का जो सवत् शिवसिंह ने दिया है वह, बाबा वेणीमाधव-दास के मूल गोसाईं-चरित से नहीं मिलता। परंतु यह भूल अन्य कई कारणों से भी हो सकती है।

मूल गोसाईं-चरित से इस बात का सकेत मिलता है कि गोसाईंजी से वेणीमाधवदास की पहली भेंट सवत् १६०९ और १६१६ के बीच म हुई थी। सभवत इसी समय वे उनके शिष्य

भी हुए हो। गोसाईंजी की मृत्यु सर्वसम्मति से संवत् १६८० में हुई। जिस व्यक्ति का अपने चरितनायक से ६४-७० वर्ष का दीर्घकालीन संपर्क रहा हो उसके लिये जीवनचरित की प्रामाणिकता विषय में संदेह के लिये बहुत कम अवकाश हो सकता है। यदि यह मूल चरित प्रामाणिक न हो तो आश्चर्य की बात होगी।

गोसाईं-चरित में तुलसीदासजी के जीवन की जितनी तिथियाँ दी गई हैं सब गणित के अनुसार ठीक उतरती हैं। जिन तिथियों की प्रामाणिकता के संबंध में नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ७, पृ० ३६५—६८ और ४०१—०२ में संदेह प्रकट किया गया था, वे भी पंडित गौरेलाल तिवारी की गणना के अनुसार ठीक उतरती हैं। (ना० प्र० प०, भाग ८, पृ० ६०-६६)। तिथियों पर यथास्थान विचार किया जायगा। गोसाईंजी ने अपने विषय में विनयपत्रिका, कवितावली, हनुमानबाहुक आदि ग्रंथों में जो जो बातें लिखी हैं, मूल चरित में दी हुई घटनाओं से उनकी भी संगति ठीक बैठ जाती है।

इसमें संदेह नहीं कि गोसाईं-चरित में बहुत सी बातें अलौकिक और असंभव हैं। महात्माओं के विषय में कई अलौकिक और चमत्कारी बातें सहज ही फैल जाया करती हैं और गुरु की महिमा को बढ़ाने के लिये शिष्य-समुदाय उन पर बहुत शीघ्र विश्वास कर बैठता है। इस वैज्ञानिक युग के शिष्यों तक में यह बात पाई जाती है। फिर सत्रहवीं शताब्दी के परम श्रद्धा-शील गुरुभक्त बाबा वेणीमाधवदास से, जो अपने गुरु के चरित्र का नित्य पाठ करना स्वाध्याय का आवश्यक अंग समझते थे, इस बात का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि इन अस्वाभाविक और अलौकिक बातों के कारण हम उन्हें झूठा ठहरा दें तो यह हमारा विवेक शून्यता का परिचय देना ही कहा जायगा। वास्तव में मूल गोसाईं-चरित में

ही हमें तुलसीदासजी के चरित के लिये दृढ़ आधार मिलता है। इस मूल चरित की पूरी प्रतिलिपि, जो पंडित रामाधारी पांडेय की ठीक नक़ल है, इस पुस्तक के दूसरे परिशिष्ट में दी जाती है।

तुलसीदासजी के जीवन की जो कुछ सामग्री आज तक उपलब्ध है उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इसी के आधार पर उनके जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा, जिसका प्रयत्न आगे के पृष्ठों में किया जाता है।



(३) जन्म

यमुना के तट पर राजापुर नाम का एक बडा गाँव है। यह गाँव बाँदा जिले की मऊ तहसील मे बसा हुआ है। जी० आई० पी० रेलवे लाइन से वहाँ के लिये जाना होता है। करवी स्टेशन से राजापुर तक १९ मील लबी एक अच्छी कच्चा सडक चला गई है। यह गाँव खूब समृद्ध है और एक खासा अच्छा नगर सा लगता है। राजापुर का अपना अलग डाकघर भी है। यहाँ एक मकान है जिस पर लगी हुई सगमरमर की तख्ती बताती है कि उसमे और मकानो से कुछ विशेषता है। इस मकान के साथ बहुत पुरानी स्मृतियाँ लगी हुई हैं, जिनके कारण प्रत्येक गुणग्राही, प्रत्येक हिंदू और प्रत्येक हिंदीभाषी के हृदय म उसे देखते ही उल्लास की तरग-मालाएँ उठने लगती हैं। यह मकान तुलसीदासजी की कुटी के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं, शील और सताप का मूर्ति, हिंदुत्व क सरक्षक और हिंदी क गौरव गोसाई तुलसादासजा इसा कुटा में रहते थे। उन्हा की स्मृति-रक्षा क लिये राज्य का ओर से इस कुटा पर सगमरमर की तख्ती लगाई गई है। चौधरी मन्नलाल, जिनके अधिकार में आजकल यह मकान है, गोसाईंजी क शिष्य गणपतिजी क उत्तराधिकारी कहे जाते हैं। इसा कुटी के कारण आज इस गाँव का इतना महत्त्व है। बहुत स लाग राजापुर क इस महत्त्व का छानकर और स्थाना का देना चाहत हैं। बाबू शिवनदनसहाय क मत स तारा तुलसादासजा का जन्मस्थान है। काइ हस्तिनापुर और काइ चित्रकूट के पास हाजी-पुर का उनका जन्मस्थान समझते हैं, परतु इनक पक्ष म काइ एस प्रमाण नहीं मिलत कि ये राजापुर क महत्त्व का अपना सक।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में भी यह गाँव बहुत समृद्ध था। वह छोटा-मोटा पुर ही था। मूल गोसाईं-चरित से पता चलता है कि वहाँ सभी जातियों के लोग सुख-संतोष और सौहार्द के साथ रहते थे। परंतु यहाँ के प्रमुख निवासी दूबे थे। इसलिये यह 'दूबों का पुरवा' कहलाता था। इसी गाँव में तुलसीदासजी के पिता रहते थे। वे धर्मात्मा, पुण्य परायण और विद्वान् थे तथा तोखनपुर के राजा के गुरु थे। जनश्रुति के अनुसार इनका नाम आत्माराम दूबे था। तुलसी-चरित में उनका नाम मुरारि मिश्र लिखा है। उसी चरित के अनुसार इनके पुरुखा कसया गाँव से आकर यहाँ बसे थे। सरयू नदी के उत्तर का भाग सरयूपार या सरवार कहलाता है। वहाँ उस समय मझौली नाम का एक छोटा राज्य था। मझौली राजधानी का भी यही नाम है। यहाँ से तेईस मील की दूरी पर कसया ग्राम बसा था। आजकल इस गाँव की स्थिति कहाँ और कैसी है यह नहीं कहा जा सकता। क्या यह बौद्ध इतिहास में प्रसिद्ध कुसीनगर ही तो नहीं है? यहीं मुरारि मिश्र के पितामह परशुराम मिश्र रहते थे। परशुराम गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेश का भाग पाते थे। पर उन दिनों वहाँ बौद्ध और जैन धर्मों का भी कुछ प्रचार था जिससे परशुराम को परिताप होता था। तिरसठ वर्ष की अवस्था तक जब इनके कोई संतान नहीं हुई तब संसार इन्हें स्वप्न के समान लगने लगा। पुत्र की कामना से ये अपनी स्त्री को साथ लेकर तीर्थाटन करने निकले और घूमते घामते चित्रकूट पहुँचे। वहाँ स्वप्न में हनुमानजी ने दर्शन दिए और आज्ञा दी कि राजापुर जाकर निवास करो, वहाँ तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक मुनिराज का जन्म होगा। इससे इन्हें संतोष हुआ। अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए ये सीतापुर पहुँचे जिसके पास ही नैमिषारण्य तीर्थ है। तोखन-

पुर के राजा, जिनके राज्य मे राजापुर गाँव बसा हुआ था, उन दिनों वहाँ आए हुए थे। परशुराम उनसे मिले और अपने स्वप्न का सारा वृत्तांत सुनाकर उनसे राजापुर मे रहने की इच्छा प्रकट की। *राजा गुणज्ञ थे।* उन्होंने देखा कि परशुराम सब शास्त्र और दर्शनों मे पारगत हैं। इसलिये वे उन्हें अपने साथ तीरनपुर ले आए और उन्होंने राजापुर में उनके रहने का सब प्रबंध बडे सम्मान के साथ कर दिया। वहाँ परशुराम मिश्र ने शिव शक्ति की शुद्ध उपासना चलाई। कैलासवासी महादेव के उन्हें साक्षात् दर्शन हुए। *राजापुर मे उन्हें एक पुत्र-रत्न का लाभ हुआ जो शंकर* मिश्र कहलाया। अत्यंत वृद्ध हो जाने पर शिवभक्त परशुराम अपना पुत्र राजा को सौंपकर मोक्षदा पुरी काशी चले आए और वहाँ परमगति को प्राप्त हुए।

शंकर मिश्र भी बडे प्रसिद्ध पंडित हुए। उन्हें वाणी सिद्ध थी। राजा-रानी और राज्य के सब कर्मचारी उनके शिष्य हो गए। उनके दो ब्याह हुए। पहली पत्नी के मर जाने पर उन्होंने अपनी छोटी साली के साथ विवाह किया। पहली स्त्री से दो लडके और दो लडकियाँ हुई। तुलसीदासजी की शाखा दूसरी स्त्री से चली है जिससे संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र दो पुत्र उत्पन्न हुए। अपनी विद्या-बुद्धि से उन्हें खूब धन धरणी का लाभ हुआ। रुद्रनाथ के चार पुत्र हुए। सबसे जेठे का नाम मुरारि मिश्र था। यही गोसाई तुलसीदास के पिता थे। गोसाईंजी के तीन भाई और दो बहनें थीं। एक भाई उनमें छोटा था और दो बड़े। सबसे बडे भाई का नाम गणपति था, दूसरे का महेश और सबसे छोटे का मंगल। इनकी बहनों का नाम वाणी और विद्या था। वे उच्च कुलों में ब्याही गई।

यह वंश-परंपरा तुलसी चरित में दी हुई है। पर इसका समर्थन और कहीं से नहीं होता। यह ग्रंथ भी आलोचकों की दृष्टि

से बचाकर रखा हुआ है। इसलिये खेद है कि हम इस परंपरा को मानकर नहीं चल सकते। मूल गोसाईं-चरित में गोसाईंजी की वंशावली इतने विस्तार से नहीं दी गई है जितने विस्तार से तुलसी चरित में दी हुई है। संक्षिप्त चरित होने के कारण यह दी भी नहीं जा सकती थी, परंतु जो कुछ इस विषय में उसमें लिखा है वह इसके विरुद्ध ही पड़ता है। वेणीमाधवदास ने गोसाईंजी के पुरखों का कसया में नहीं, पत्योजा में रहना कहा है और उनके कुल का अल्ल भुरखे बतलाया है—

'शुभ थान पतेजि रहे पुरखे। तेहि ते कुल नाम पड्यो भुरखे॥'

यद्यपि वेणीमाधवदास ने कहीं भी तुलसीदासजी को दूबे नहीं कहा है, फिर भी पत्योजा से उनकी वंश-परंपरा को आरंभ करना उन्हें दूबे कहने के ही बराबर है। काष्ठजिह्वा स्वामी ने भी कहा है—'तुलसी पराशर गोत दूबे पतिऔजा के'। संभव है, बड़े ग्रंथ में—जिसका 'मूल चरित' संक्षेप है—उनको स्पष्ट दूबे लिखा हो। परंतु मिश्र-बंधुओं की जाँच पड़ताल से ज्ञात होता है कि बाँदा जिला और राजापुर के इर्द गिर्द कान्यकुब्ज द्विवेदियों की बस्ती है, सरवरियों की नहीं। सरवरियों की भी उधर कमी नहीं है, पर वे द्विवेदी नहीं हैं। राजा प्रतापसिंह ने उन्हें इसी लिये कदाचित् कान्यकुब्ज लिखा है। इसी आधार पर मिश्र-बंधुओं को भी राजा प्रतापसिंह का समर्थन करना पड़ा है। पर गोसाईंजी राजापुर में भी सरवरिया ही प्रसिद्ध हैं। वेणीमाधवदास के लेख में राजापुर में सरवरिया द्विवेदियों के अभाव का कारण उनके वंश का नष्ट होना पाया जाता है। तुलसीदासजी के जन्म लेने के छः मास के भीतर उनके पिता मर गए और दस वर्ष के भीतर उनके वंश ही का नाश हो गया था। अतएव उन्हें द्विवेदी मानने में कोई

जो लोग उनके 'जायो मगन कुल' कहने से उनको सचमुच भिखमगे की सतान कह डालते हैं, वे उन्हीं के 'दियो सुकुल जन्म सरीर सुदर हेतु जो फल चारि को' वाक्य से भी कुछ परिणाम निकालते हैं या नहीं, यह नहा कहा जा सकता। 'सुकुल' से यहाँ 'शुक्ल' जाति नहीं, केवल अच्छे, उच्च कुल से अभिप्राय है।

और जो कुछ हो, इस बात मे तो कुछ भी सदेह नहीं कि तुलसीदासजी सरयूपारी थे। वेणीमाधवदास और रघुबरदास दोनों ने उन्हें सरयूपारी कहा है। गोसाईंजी ने अपने ग्रथों मे सरवार की रीति नीति का बडा अच्छा परिचय दिया है। सरवार के 'दही-चिउडा' तक को वे नहीं भूले हैं। सरवार म दही चिउडे की बडी चाल है। यह सबल का भी काम देता है और रिश्तेदारों म भी बाँटा जाता है। गोसाईंजी ने बरातियो के लिये जनक के यहाँ से याद करके दही चिउडा भिजवा दिया है। भाषा की दृष्टि से भी तुलसीदासजी सरयूपारी ही ठहरते हैं। उन्होने अपने ग्रथों म सरयू-पार की शुद्ध अवधी भाषा का प्रयोग किया है। उनकी भाषा साहित्यिक होने पर भी अस्वाभाविक नहा है। इससे ज्ञात होता है कि उनका सरवार की बोली का व्यावहारिक अभ्यास था। यदि यह बात न होती तो अवश्य ही उनकी बानी म पछँहियाँपन आ जाता, क्योंकि राजापुर के आसपास की बोली यद्यपि है अवधी ही, परतु उसमें बहुत पछँहियाँपन है। कुलीन घराने के लोगों का अपने मूल-स्थान की रीति-भाँति और बोल-चाल की रक्षा करने का प्रयत्न स्वाभाविक ही है।

इन सब बातों पर एक साथ विचार करने स हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तुलसीदासजी सरयूपारी और सभवत द्विवेदी थे।

ऊपर कह चुके हैं कि जनश्रुति के अनुसार तुलसीदासजी के पिता का नाम आत्माराम द्विवेदी था। वेणीमाधवदास ने उनके

पिता का उल्लेख तो किया है, पर कोई नाम नहीं लिखा है। तुलसीदास की माता का नाम उन्होंने 'हुलसी' दिया है। जनश्रुति भी उनकी माता को हुलसी के ही नाम से जानती है। अब्दुर्रहीम खानखाना तुलसीदासजी के प्रेमियों मे से थे। कहते हैं, एक बार तुलसीदासजी ने दोहे का एक चरण बनाकर उनके पास भेजा—

'सुर तिय नर तिय नाग तिय सब चाहत अस होय।'

खानखाना ने दोहे को यों पूर्ण करके लोटा दिया—

'गोद लिए हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय॥'

इसमें तुलसीदासजी की माता के नाम का सकेत होने के कारण श्लेषपुष्ट मुद्रालकार माना जाता है। राम-कथा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए स्वय तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में एक स्थल पर 'हुलसी' शब्द का प्रयोग किया है। वे कहते हैं—

'रामहि प्रिय पावन तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

यहाँ हुलसी से तुलसीदास की माता ही समझने से अर्थ की सगति बैठती है।

तुलसीदासजी की जन्मतिथि के विषय में कई मत प्रचलित हैं। रामायण-रसिक पडित रामगुलाम शर्मा ने उनका जन्म सवत् १५८९ दिया है। शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में लिखा है कि वे १५८३ में उत्पन्न हुए थे। डा० ग्रिअर्सन ने पडित रामगुलाम शर्मा का समर्थन किया है। अब तक बहुमत भी उन्हीं का अनुसरण करता था। परतु अब परिस्थिति बदल गई है। वेणीमाधवदास ने इस विषय में लिखा है—

'जब कक म जीव हिमाशु चरै॥
कुज सप्तम अष्टम भानु तरै। अभिजित सुठि सुदर साझ समै॥
पद्रह से चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी घरेउ सरीर॥'

अर्थात् विक्रम सवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी को सध्या समय तुलसीदासजी ने जन्म लिया। उस समय कर्क के बृहस्पति और चद्रमा, सप्तम मगल और अष्टम शनि थे। सवत् १५५४ में दो श्रावण मास पडे थे, अधिक श्रावण मास से अभिप्राय होता तो यह बात स्पष्ट लिखी जाती। अतएव शुद्ध श्रावण मास ही समझना चाहिए। वार न दिए होने से इस तिथि की विशेष जाँच नहीं की जा सकती। बिलासपुर-निवासी पडित गोरलाल तिवारी के अनुसार उस दिन शनिवार था और अँगरेजी तारीख ५ अगस्त १४९७ थी।

गोसाईजी की शिष्य परपरा मे सवत् १५५४ ही उनका जन्म-सवत् माना जाता था। अपने 'मर्यादा'-वाले लेख मे, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, बाबू इद्रदेवनारायण लिखते हैं—"श्रीगोस्वामी का शिष्य परपरा की चौथी पुश्त मे काशी-निवासी विद्वद्वर श्री शिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर सस्कृत भाष्य तथा व्याकरणादि विषयों पर भी अनेक ग्रथ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानस-मयक नामक तिलक रचा है। उसमे लिखा है—

दोहा—' मन (४) [०] ऊपर शर (५) जानिए, शर (५) पर दीन्ह एक (१)। तुलसी प्रगटे रामवत राम न म की टेक॥"

इससे भी गोस्वामीजी का जन्म-सवत् १५५४ ही निकलता है। बाबा रघुवरदास के तुलसी चरित के यत्किचित् परिचय के साथ साथ उक्त बाबू साहब ने शिवलालजी के दोहे का उद्धृत किया है। रघुवरदास ने इस विषय मे क्या लिखा है वह तो साफ साफ उन्होंने नहीं बताया है, फिर भी उस लेख से अनुमान यही होता है कि सभवत रघुवरदास के मत मे भी यही सवत् उनका जन्म-सवत् माना गया है।

परतु प्रत्येक बात मे श्री शिवलालजी भी वेणीमाधवदास से सह मत नहीं हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि तुलसीदासजी ने अपने जन्म मे रामजन्म की टेक का निर्वाह किया। तुलसीदासजी ने रामजन्म के तिथि-नक्षत्र यो दिए हैं—

'नवमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥'

वेणीमाधव के अनुसार न नवमी सुदी ठहरती है, न फाल्गुन मास और न अभिजित नक्षत्र। किसी भी तरह रामजन्म की टेक का निर्वाह नहीं होता। हाँ, अयोध्या के महात्मा बालकरामजी की प्रति मे 'अभिहित सुठि साँझ समे' का 'अभिजित शनि साँझ समै' करके उसका निर्वाह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। परतु इस पाठ को मानने का हमे कोई कारण नहीं देख पडता। मूल शुद्ध पाठ 'अभिहित सुठि साँझ समय' ही है। पडित गोरेलालजी ने यह नहीं बताया कि उस दिन अभिजित नक्षत्र पडता है या नहीं। परतु राम-जन्म की टेक की रक्षा न होने से वेणीमाधवदास के कथन की अकृत्रिमता ही सिद्ध होता है। शिवलालजी के कथन मे सांप्रदायिकता देख पडती है। इसलिये वेणीमाधवदास की दी हुई जन्मतिथि ही ठीक जान पडती है।

यह बात अवश्य है कि १५५४ को गोसाईंजी का जन्म-सवत् मानने से उनकी १२६ वर्ष की लबी आयु हो जाती है, जिस पर बहुत से लोगों की विश्वास करने की प्रवृत्ति न होगी। परतु आजकल भी समाचारपत्रों मे डेढ डेढ सौ वर्ष की अवस्थावालों के समाचार छपते ही रहते हैं। तब एक सयमी योगी महापुरुष की १२६ वर्ष की आयु पर क्यों अविश्वास किया जाय?

---

(४) शैशव, दीक्षा और शिक्षा

तुलसीदासजी के चमत्कारपूर्ण जीवन का आरंभ आश्चर्य-स्फीत वातावरण में अवगुंठित है, परंतु साथ ही विषादपूर्ण भी है। बारह मास तक वे माता के गर्भ में रहे और जब उत्पन्न हुए तब पाँच वर्ष के से बालक लगते थे। पेट ही से उनके बतीसो दाँत उग आए थे। शिशु जन्मते ही रोता है, पर यह आश्चर्य-जनक शिशु रोया नहीं, उसके मुँह से जन्मते ही जो ध्वनि निकली उसमें सूतिका-गृह की परिचारिकाओं ने स्पष्ट 'राम' शब्द सुना। तब यदि उसके पिता को उसके उत्पन्न होने का समाचार सुनाते हुए दासी ने कहा कि 'मैं बूढ़ी हो गई हूँ, परंतु अपने जीवन भर में मैंने ऐसा शिशु नहीं देखा' तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। स्त्रियाँ उसको देखकर डर के मारे काँपने लगीं। उन्होंने समझा कि कोई राक्षस उत्पन्न हुआ है।

पिता को भी यह समाचार सुनकर बड़ा परिताप हुआ। उन्होंने सोचा कि यह मेरे पूर्व जन्म के पापों का फल है। बाल्य-काल के उन थोड़े से वर्षों में, जब बच्चे को माता पिता के दुलार की बड़ी आवश्यकता रहती है, तुलसीदास को जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं उनमें हम उनके पिता के इस विचार को प्रतिफलित हुआ देखते हैं। बालक को भी इस बात का अनुभव हुआ और वह अपने पिता के इस भाव को जन्म भर न भूला। कवितावली में के 'जायो कुल-मंगन बधावनो बजायो सुनि भयो परिताप पाप जननी जनक को' कहने से तुलसीदास का क्या अभिप्राय था, यह वेणीमाधवदास के मूल चरित में दिए हुए गोसाईंजी के जन्म के इस वर्णन से भली भाँति समझ में आ जाता है।

बालक के जन्म लेने का समाचार सुनकर हित-मित्र, बंधु-बांधव सब राजगुरु के घर पर एकत्र हुए। ज्योतिषीजी भी बुलाए गए। सब यही सोच रहे थे कि इस अशकुनी बालक का क्या किया जाय। इन लोगों का यह विचार था कि यह बालक जिएगा नहीं। अंत में यह निर्णय हुआ कि यदि तीन दिन के अनंतर भी बालक जीता रहा तो उसके ब्राह्मणोचित लौकिक वैदिक संस्कार किए जायँ, अन्यथा वे अनावश्यक हैं।

हुलसी को इस निर्णय से संतोष नहीं हुआ। उसको इन लोगों के हाथ से अपने बालक के अनिष्ट की आशंका थी। इसी बीच में वह बहुत बीमार भी पड़ गई। उसने अपने जीवन की आशा छोड़ दी। उसकी आशंका ने अब और भी जोर पकड़ा। उसने सोचा कि ये निष्ठुर लोग मेरी मृत्यु के पीछे अवश्य मेरे बालक को फेंक देंगे। इसलिये उसने अपनी मुनियाँ नाम की दासी को बुलाकर उसे अपने गहने दिए और बालक को सौंपकर कहा—"तू चुपके से इसे अपनी सास के पास हरिपुर ले जा और वहाँ अच्छी तरह से इसका पालन पोषण कर।" बालक के जन्म के पाँचवें दिन उसकी माता का स्वर्गवास हो गया।

दासी नवजात शिशु को लेकर रातोंरात हरिपुर पहुँची। उसकी सास चुनियाँ दयालु स्त्री थी। उसने कहा—"तूने अच्छा किया जो इसे ले आई। हमारे घर में कनौर गाय ब्याई है। यह उसका दूध पीकर अवश्य जी जायगा।" चुनियाँ बड़े प्रेम से शिशु का पालन करने लगी। वह उसे प्रसन्न रखने का भरसक प्रयत्न करती। जो कुछ वह माँगता वह उसे वही ला देती। परंतु यहाँ भी शिशु के अभाग्य ने उसका पीछा न छोड़ा। चुनियाँ की प्रेम-पूर्ण रक्षा में रहते अभी इसे पाँच वर्ष और पाँच मास ही हुए थे कि चुनियाँ साँप के डसने से मर गई। तब राजगुरु के घर कहलाया गया कि

आप अपना पुत्र ले जाइए। परतु उन्होंने अपने पुत्र की सँभाल नहीं की। हुलसी और चुनियाँ की मृत्यु ने उनके अधविश्वास को और भी पुष्ट कर दिया। वे बोले—"जो कोई उसका पालन करता है, उसी का नाश हो जाता है। हम ऐसे बालक को लेकर क्या करेगे? ऐसे अभागे अपशकुनी की मरने-जीने की चिता ही क्या?" यह घटना भी आगे चलकर तुलसीदास के वैराग्योदय मे सहायक हुई। इस निस्सहायावस्था ने उनको राम के माहात्म्य का मूल्य बताया। अपनी निस्सहायावस्था को राम के सामने प्रकट करते हुए तुलसीदासजी ने अपने त्यक्त होने की बात स्थल स्थल पर कही है। कवितावली में वे लिखते हैं—

'मातु पिता जग जाइ तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।'

माता उन्हें छोडकर स्वर्ग चली गई और पिता ने उनकी सँभाल भी नहीं की।

एक और स्थान पर वे कहते हैं—

'स्वारथ के साथिन तज्यो तिजरा को सा टोटक औचक उलटि न हेरो।'

विनय-पत्रिका मे भी उन्होंने कहा है—

'जननि जनक तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरो।'

वे पुन कहते हैं—

द्वार द्वार दीनता कही काढ़ि रद परि पाहूँ।
है दयाल दुनी दसौ दिसा दुखदोष दलन छमि किया न सभाषन काहू।
तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात पिता हूँ।
काहे को रोस दोस काहि धौं मेरे ही अभाग मोसों सकुचत सब छुइ छाँहूँ।'

तुलसीदासजी के इन कथनों की सगति मिलाने के लिये पडित सुधाकर द्विवेदी ने अनुमान किया है कि वे अभुक्त मूल मे उत्पन्न हुए थे। इसलिये उनके पिता ने उनको त्याग दिया था। डा० ग्रियर्सन ने सुधाकरजी का अनुगमन किया, परतु वास्तव मे सुधाकरजी

का अनुमान केवल अनुमान ही है। मूल में जन्मे बालक सर्वथा अनाथ नहीं छोड़ दिए जाया करते थे। ऐसे बालकों की मूल-शांति और गोमुख प्रसव शांति का उपाय शास्त्रों में लिखा है। वास्तविक बात, जैसा कि वेणीमाधवदास के ग्रंथ से प्रकट है, यह थी कि तुलसीदास के पिता के मन में यह भय समा गया था कि यह बालक अपशकुनी है। आगे आनेवाली घटनाओं ने उनके भय को और भी पुष्ट किया। बालक के साथ उनका कुछ समय तक भी संसर्ग नहीं हुआ था, जिससे वात्सल्य भाव जागरित होता। यदि जन्मते ही तुलसीदास अपनी माता की इच्छा से हरिपुर न भेज दिए गए होते तो संभवत उनके पिता के लिए उनका त्याग न हो सकता।

तुलसी-चरित में तुलसीदास के ऐसे असाधारण रूप में उत्पन्न होने का वर्णन नहीं है। इसलिये वहाँ त्याग की भी बात नहीं उठ सकती थी। उसमें बहुत समय तक तुलसीदास का अपने पिता के साथ रहना पाया जाता है। परंतु स्वयं तुलसीदासजी के वचनों से इसका विरोध होता है। इसलिये यह मान्य नहीं है।

पिता के द्वारा इस प्रकार त्याग दिए जाने पर बालक तुलसीदास लोगों के दरवाजे दरवाजे डोलता फिरा। जब स्वयं पिता ही मृत्यु के भय से अपने पुत्र की रक्षा करने को उद्यत नहीं था तब और किसी से क्या आशा की जा सकती थी? दो वर्ष तक यही दशा रही। इसके अनंतर एक दिन भाग्यवश स्वामी नरहर्यानंदजी हरिपुर पधारे। उस बालक को देखकर उन्हें दया आ गई और वे उसे अपने साथ अयोध्या लेते गए। परंतु परम गुरुभक्त श्रद्धालु वेणीमाधवदास यों साधी तरह से बात कहनेवाले नहीं हैं, क्योंकि इससे गुरु का मान घटता है। इसलिये जगज्जननी पार्वती को ब्राह्मणी का रूप धरकर दो वर्ष तक प्रतिदिन इस बालक को खिलाने पिलाने के लिये आना पड़ा। लोग हैरान थे कि यह स्त्री है कौन। सब हार गए, पर

कोई उसका पता न पा सका। एक स्त्री इस टोह में लगी रहा। एक दिन उसने ब्राह्मणी पार्वती के पाँव पकड़ ही लिए और उसे जाने न दिया। पार्वती को अंतर्धान होना पडा। फिर वह नहीं आई। परंतु पार्वती का प्रेम देखकर अब शिवजी को चिंता हुई। नरहर्यानंदजी उन्हीं की प्रेरणा से हरिपुर आए और लोगों की अनुमति से बालक तुलसी को अपने साथ ले गए।

नरहर्यानंदजी ने इस बालक के पंच-संस्कार किए। नामकरण भी पंच संस्कारों के अंतर्गत आता है। तुलसी चरित में दी हुई कथा के अनुकूल इनका नामकरण घर ही पर हुआ था और इनका नाम तुलाराम था। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने अत्यंत स्नेह के कारण इनका नाम तुलसा भी रख दिया था। इनका नाम तुलसीदास था, इसमें तो संदेह का स्थान ही नहीं, परंतु मूल गोसाईं-चरित के अनुसार रामबोला भी इनका एक नाम था। नरहर्यानंदजी ने हरिपुर में रामबोला कहकर ही बालक तुलसा का प्रबोधन किया था। केवल यहीं पर 'रामबोला' नाम का प्रयोग हुआ है। यह 'पंच-संस्कार' के पहले की बात है। इसके पीछे मूल चरित में उनके लिये नाम का प्रयोग बहुत दूर जाकर होता है, जब कि वे काशी से शिक्षा प्राप्त कर घर लौट आते हैं। इस समय वे 'तुलसा' करके अभिहित किए गए हैं। इस पर यही अनुमान किया जा सकता है कि 'रामबोला' उनका पहले का नाम था, जिसको संस्कार के समय नरहर्यानंदजी ने बदलकर तुलसीदास कर दिया। स्वयं गोसाईंजी ने स्थल स्थल पर इस बात की ओर संकेत किया है कि उनका एक नाम 'रामबोला' भी था। कवितावली में उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

'रामबोला नाम है गुलाम राम साहि को।'

विनय-पत्रिका में वे कहते हैं—

'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम।'

रामबोला इनका संस्कार का नाम नहीं था। जन्मते ही इन्होंने 'राम' कहा था। जान पडता है, इसी लिये इनका नाम रामबोला पड गया था। 'नाम रामबोला राख्यो राम' इसी अर्थ में ठीक हो सकता है।

मूल चरित के अनुसार संवत् १५६१ माघ सुदी पंचमी, तदनुसार १४ जनवरी १५०५ गुरुवार, को नरहर्यानंदजी ने सरयू के तट पर वेद की विधि के अनुकूल तुलसी का यज्ञोपवीत संस्कार किया। इसी दिन उन्होंने उसे राम मंत्र की भी दीक्षा दी। ज्योतिष की गणना से यह तिथि ठीक ठहरती है। जैसे शिशु तुलसीदास ने जन्मते ही 'राम' कहकर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया था वैसे ही उसने अन्न बिना सिखाए ही गायत्री मंत्र का उच्चारण कर पंडितों को चकरा दिया। इससे इतनी ही बात समझनी चाहिए कि इनको गायत्री मंत्र बहुत घोखवाना नहीं पडा।

'तुलसी चरित' के अनुसार गोसाईंजी के कुलगुरु का नाम तुलसीराम था। कुलगुरु के हाथ से इनका दीक्षा पाना घटता नहीं है। तुलसीदासजी ने बालकांड के आरंभ में, मंगलाचरण के रूप में, अपने गुरु की वंदना यों की है—

"बंदउँ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि।
महा मोह तम पुंज, जासु बचन रवि-कर निकर॥"

इस सोरठे के 'नर-रूप हरि' के आधार पर कुछ विद्वानों ने नरहरिदास को इनका गुरु माना है। ये नरहरिदास रामानंदजी के द्वादश शिष्यों में से बताए जाते हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन को भी इनकी गुरु-परंपरा की दो सूचियाँ मिली हैं। इन दोनों के अनुसार नरहरिदास ही इनके गुरु ठहरते हैं। परंतु ये नरहरिदास रामानंदजी के नहीं, गोपालदासजी के शिष्य थे, जो रामानंदजी की

शिष्य-परपरा की छठी पीढी मे हुए। इन दोनों सूचियों म और भेद चाहे कितना ही हो, परतु दोनो से यह बात प्रकट होता है कि गोसाईंजी स्वामी रामानदजी की शिष्य परपरा की तीसरी नहीं आठवीं पीढो मे हुए। इन दोनो सूचियो के अनुसार इनकी गुरु-परपरा यह है—

१—रामानद, २—सुरसुरानद, ३—माधवानद, ४—गरीबानद (गरीबदास), ५—लक्ष्मीदास, ६—गोपालदास, ७—नरहरिदास, ८—तुलसीदास।

परतु जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, वेणीमाधवदास के अनुसार उनके गुरु नरहर्यानदजी थे, जो रामानदजी के शिष्य अनतानद के शिष्य थे। नरहर्यानद अनतानदजी के अष्ट शिष्यो म से थे। इसकी पुष्टि नाभाजी के भक्तमाल से भी होती है—

योगानंद, गयश, करमचद, अल्हू, पैहारी,
सारी रामदास, श्रीरग अवधि गुण महिमा भारी।
तिनके नरहरि उदित मुदित महा मगल तन,
रघुवर यदुवर गाय विमल कीरति सच्यो धन।
हरि भक्ति सिधु वला रच पानि पद्मक सिर दए।
श्री अनँतानँद-पद-परसि कै लोकपाल सत भए॥

इस प्रकार रघुवरदास के मत को छोडकर तुलसीदासजी की गुरु-परपरा के विषय में हमें तीन मत मिलते हैं। एक के अनुसार व रामानदजी की दूसरी पीढी मे, दूसरी के अनुसार आठवीं में और तीसरी के अनुसार चौथी पीढी में हुए थ। ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी जाँच करने से तीसरा, अर्थात् वेणीमाधवदास का, मत ही ठीक जान पडता है। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डाक्टर भडारकर के अनुसार रामानंदजी का समय सवत् १३५६ से १४६७ तक है। अगस्त्य-सहिता में, जो रामानंदियों का बहुत मान्य ग्रथ है, यही समय

दिया हुआ है। अनुमान से १४५० के लगभग उनके द्वादश शिष्यों का शिष्य होना मान्य है। तुलसीदास आठ वर्ष की अवस्था मे, स० १५६१ मे, यज्ञोपवीत और राम नाम मे दीक्षित हुए थे। १४५० और १५६१ के बीच न दो पीढ़ियाँ ठीक ठहरती हैं और न आठ। हाँ, इन लगभग सवा सौ वर्षों मे चार पीढ़ियों का समय खप जाता है। अतएव 'नर-रूप हरि' मे गुरु के नाम का जो सकेत है उसमे अनतानद के शिष्य नरहर्यानद ही समझना चाहिए।

बालक तुलसीदास बड़े गुरु-भक्त थे। वे अपने वृद्ध गुरु की सेवा मे सदा तत्पर रहते थे। उनके चरण दाबते थे और उन्हें सब प्रकार से प्रसन्न रखने का प्रयत्न करते थे। नरहर्यानद भी उनके गुणों पर मुग्ध हो गए थे। उनकी धारणा शक्ति अद्वितीय थी। इस मेधावी बालक को वे बड़े प्रेम से पढ़ाने लगे। वेणी-माधवदास के मूल चरित से मालूम पड़ता है कि और विषयों के साथ वे उससे पाणिनि के सूत्र भी मुखाग्र कराते थे। अयोध्या मे नर-हर्यानदजी ने हनुमान टीले पर अपना आश्रम जमाया था। तुलसी-दास अपने गुरु के साथ यहाँ दस मास रहे, तत्पश्चात् हेमत ऋतु के आरभ होने पर नरहर्यानदजी अपने शिष्यों को साथ लेकर सूकर-खेत चले आए। कुछ लोगों ने सूकरक्षेत्र (सूकरखेत) को चित्र-कूट के निकट का सोरों माना है और इसी आधार पर वहाँ कुछ उत्साही जनों ने तुलसीदासजी का आश्रम भी स्थापित कर दिया है, परतु वास्तव मे सोरों का सूकरखेत से कोई सबध नहीं है। सूकर-खेत, जैसा वेणीमाधवदास ने लिखा है, सरयू और घाघरा के सगम पर है और आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

सूकरखेत मे भी तुलसी की शिक्षा का क्रम चलता रहा। बालक अब कुछ पढ लिखकर सयाना हो गया था। उसकी बुद्धि

की प्रखरता प्रकट होने लगी थी। इसलिये नरहर्यानंदजी ने उसे रामचरितमानस की कथा सुनाना उचित समझा। तुलसीदास ने मन लगाकर कथा सुनी और उसके तत्त्व को समझने का वे प्रयत्न करते रहे। नरहर्यानंद बार-बार राम-कथा सुनाकर उनके इस प्रयत्न मे सहायता करते रहे। यह बात स्वयं तुलसीदासजी ने भी अपने रामचरितमानस के आरंभ मे कही है—

'मै पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझि नहीं तस बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥'

'तब अति रहेउँ अचेत' का अर्थ लगाते समय यह ध्यान मे रखना चाहिए कि तुलसीदासजी की यह उक्ति उस समय की है जब वे पूर्ण ज्ञान-संपन्न हो गए थे। इस अवस्था की तुलना मे बाल्यावस्था को अचेतावस्था कहना स्वाभाविक ही है। 'अचेत' का अर्थ यह नहीं है कि उनको अभी होश हवास ही नहीं हुआ था। श्री शिवलालजी पाठक ने, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, अपने मानस-मयंक नामक 'तिलक' में लिखा है कि पाँच वर्ष तुलसीदास ने अपने गुरु से राम-कथा सुनी थी। 'सुने गुरु ते बीच शर' (५) यह बात असंभव तो नहीं है, किंतु एक पाँच वर्ष के बालक का उद्देश्य करके गूढ़ राम-कथा कहना कुछ जँचता नहीं है। तुलसीदासजी के उपर्युक्त कथन मे भी इसकी पुष्टि नहीं की जा सकती, क्योंकि इतनी छोटी अवस्था का किसी घटना का इतनी स्पष्टता से स्मरण रहना असंभव है।

पाँच वर्ष तक सूकरखेत में रहकर नरहर्यानंदजी अपनी शिष्य-मंडली को साथ लेकर काशी धाम आए और अपने संप्रदाय के प्रवर्तक परमगुरु रामानंदजी के स्थान पंचगंगा घाट पर ठहरे।

पचगगा घाट पर एक दूसरे महात्मा रहते थे जो वेद पुराण आदि मे पारगत और सर्वशास्त्र निष्णात थे। इनका नाम शेषसनातन था। शेषसनातनजी शरीर से तो बूढ़े थे परतु उनका मन अभी युवाओं की भाँति उत्साहपूर्ण था। तीक्ष्णबुद्धि बालकों को विद्यादान करने का उन्हें व्यसन था। इसे वह अपना कर्तव्य समझते थे। बालक तुलसीदास की प्रखर बुद्धि देखकर वे उस पर रीझ गए। उन्होंने सोचा, इस वटु को विद्या पढाकर अपनी विद्या सफल करनी चाहिए। उन्होंने नरहर्यानदजी से कहा कि "अपना यह शिष्य आप मुझे दे दीजिए। इसम लौकिकता नहीं है। मैं इसे अपने पास रखकर पढाना चाहता हूँ।" जान पडता है कि आगे चलकर गोस्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य नददास को भी उन्होंने इसी भाँति सिखाने के लिये माँग लिया था, क्योंकि वेणीमाधवदास ने नददास के भी इन्हीं के यहाँ शिक्षा पाने का उल्लेख किया है। नरहर्यानदजी ने उनकी बात स्वीकार कर ली, परतु शिष्य को सहसा छोडते भी न बना। जब तुलसीदास वहाँ हिल मिल गए और विद्याध्ययन म अच्छी तरह प्रवृत्त हो गए तब नरहर्यानदजी चित्रकूट की ओर चले गए। इसके पीछे फिर कभी गुरु शिष्य का मिलन हुआ या नहीं, इसका कुछ पता नहीं चलता।

शेषसनातन अपने नए शिष्य को मनोयोगपूर्वक पढाने लगे और तुलसीदास अपने नए गुरु की तन मन से सेवा करने लगे। उनका यह बडा सौभाग्य था कि उन्हें शेषसनातन सरीखा शिक्षा गुरु मिला। उनके पास रहकर उन्होंने वेद, वेदांग, शास्त्र, पुराण, इतिहास, काव्यकला आदि इतनी अच्छी तरह से पढे कि वे उनके व्यक्तित्व के अग हो गए। इसी से उनके व्यक्तित्व को वह शक्ति प्राप्त हुई जिसमें हिंदुओं के विचार पर उसकी छाप सी लग गई।

१५ वर्ष तक तुलसीदास शेषसनातनजी के पास पढते रहे। इससे अधिक उनकी शिक्षा रक्षा मे रहना उनके भाग्य में नहा था, क्योंकि सवत् १५८२ मे शेषसनातनजी का गोलोकवास हो गया। तुलसीदास ने बडी श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने शिक्षा गुरु के अतिम सस्कार किए। उनके साथ ही उनका शिक्षाकाल भी समाप्त हो गया।

---

(५) गार्हस्थ्य जीवन और वैराग्य

शेपसनातनजी के गोलोकवासी हो जाने पर तुलसीदास अन्य मनस्क रहने लगे। गुरु के वियोग के कारण वे शोकग्रस्त रहते थे। काशी में अब उनका जी नहीं लगता था। उनके बिना वह उन्हें सूनी सी लगने लगी। उन्होंने सोचा कि अब यहाँ से चलना चाहिए। पर जाँय कहाँ ? उन्होंने मन मे निश्चय किया कि चलकर पहले अपनी जन्मभूमि का दर्शन करना चाहिए। उनके आत्मीय जनो ने उनके साथ चाहे कैसा ही क्रूर व्यवहार क्यो नहीं किया था फिर भी उनके प्रति उनकी प्रीति थी। शेपसनातन ने तुलसी को केवल पुस्तकी कीट नहीं बनाया था, उनके हृदय मे भव्य भावनाओं को भी जागरित किया था। "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" महामत्र की अनुभूति भी उनको हुई थी। इसी अनुभूति ने उनके राम के मुख से जन्मभूमि की महिमा की यह गौरवपूर्ण घोषणा कराई थी—

'जन्म भूमि मम पुरी सोहावनि।
उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।
बेद पुरान बिदित जग जाना॥
अवध सरिस मोहि प्रिय नहिं सोउ।
यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥'

गुरु के वियोग से शोकाकुल हृदय मे माता-पिता की सेवा की उत्कठा लिए हुए तुलसीदास ने अपनी जन्मभूमि की ओर प्रयाण किया। वे क्या जानते थे कि माता पिता की सेवा क्या, उनके दर्शन भी अब

उनके भाग्य मे नहीं हैं। राजापुर पहुँचकर उन्हें राजगुरु वश का यदि कोई चिह्न देखने को मिला तो वह था उनके भवन का खड-हर, जिसमे एक भी प्राणी नहीं दिखाई देता था। गाँव का सारा हाल कहते हुए एक भाट ने उनको यह हृदय विदारक समाचार सुनाया कि राजगुरु-वश का अब कोई भी प्राणी बच नहा रहा है। जैसा उस भाट ने बतलाया, बात यह थी कि जिस समय राजगुरु तुलसीदास के त्याग की बात कर रहे थे उस समय वहाँ एक तपस्वी बैठा हुआ था। वह तेजस्वी तापस पिता के द्वारा पुत्र पर किए जानेवाले इस अत्याचार को सहन न कर सका था। उसने नाग फणी उठाकर शाप दे दिया था जिससे छ मास के अदर ही राजगुरु का देहांत हो गया था और दस वर्ष के अदर उनका सारा वश ही नष्ट हो गया था।

भाट के मुँह स यह सब बात सुनकर उन्हें अत्यत शोक हुआ, परतु किसी प्रकार अपने हृदय पर पत्थर रखकर उन्होंने विधि विधान के सहित श्राद्ध पिड दानादिक मृतक कर्म किए।

गाँव के लोगों के आग्रह से तुलसीदासजी ने राजापुर मे ही रहना स्वीकार किया। लोगों ने ही प्रेम पूर्वक उनके गिरे हुए भवन को उठा दिया। पारिवारिक विपत्ति का भूलने के लिये तुलसीदास रामचद्रजी की कथा म मग्न रहने लगे। उनकी कथा की कीर्ति चारों ओर फैलने लगा। दूर दूर स लोग उनकी कथा सुनने के लिये आने लगे।

यमुना के उस पार तारिपता नामक एक गाँव था। उस गाँव म भारद्वाजगोत्रीय एक ब्राह्मण दीनबधु रहते थे। व बडे धर्मनिष्ठ थे। व सभी पर्वों को मनाते थ। कार्तिकी द्वितीया का स्नान करने के लिये व एक समय इस पार राजापुर आए। उनके कुटुंबी जन भी उनके साथ थे। तुलसीदास की कथा की प्रशंसा उन्होंने

भी सुनी थी। स्नान-दान करके वे उनकी कथा सुनने आए। व्यास-गद्दी पर बैठे हुए तुलसीदास की योग्यता, उनकी शोभा और उनकी शारीरिक सुंदरता को देखकर वे उन पर रीझ गए और जाते जाते उनके बारे में सब पूछ ताछ करते गए, जनश्रुति इन ब्राह्मण देवता को दीनबंधु पाठक और उनकी कन्या को रत्नावली नाम से जानती है। पर वेणीमाधवदास इस विषय में चुप हैं।

इन ब्राह्मण देवता की एक कन्या थी। ब्राह्मण देवता अपनी कन्या के लिये योग्य वर की खोज में थे। तुलसीदास उनकी नजर में चढ गए। 'दियो सुकुल जन्म, सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को' कहकर तुलसीदास ने अपने प्रति ईश्वर की देन की प्रशंसा योंही नहीं की है। उनकी विद्या बुद्धि, उनका उच्च कुल और उनका शारीरिक सौंदर्य, सभी के कारण वे उन्हें अपनी पुत्री के योग्य वर प्रतीत हुए और उन्हीं को उन्होंने अपना दामाद बनाने की ठान ली।

वसंत ऋतु के आरंभ होने पर चैत्र मास में ब्राह्मण देवता तुलसीदास के पास पहुँचे और उन्होंने अपना मनोरथ कहा। तुलसीदास गृहस्थी की झंझटों में पडना नहीं चाहते थे। ब्राह्मण देवता से भी उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—"महाराज मुझे ब्याह करना कुछ नहीं चाहिए, आप कृपा कर दूसरी जगह पधारकर अपनी कन्या के लिये प्रबंध कीजिए।" परंतु ब्राह्मण देवता कच्ची मिट्टी के नहीं थे। वे तो सन्नद्ध होकर आए थे, ऐसे ही कब माननेवाले थे? अनशन व्रत रखकर वे तुलसीदास के द्वार पर धरना देकर बैठ गए। तुलसीदास को विवाह करना स्वीकार करना पडा। बेचारे क्या करते? ब्राह्मण की हत्या कैसे सिर पर लेते?

निदान, संवत् १५८३ की जेठ सुदी तेरस (२४ मई सन् १५२६) बृहस्पतिवार को आधीरात के समय तुलसीदास की भाँवरी

पड़ी और विधि-विधान के अनुसार उनका विवाह हो गया। इस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष १० महीने की थी।

तुलसीदास को पत्नी अत्यंत रूपवती और धर्मशीला मिली थी। उसके मुखचंद्र से घूँघट हटाकर एक ही बार देखने पर उन्होंने अपने आपको उस पर न्योछावर कर दिया। वे उसके प्रेम में इतने मग्न हो गए कि एक घड़ी भी उससे विलग न हो सकते थे। उनकी इस दशा का वर्णन करते हुए वेणीमाधवदास लिखते हैं—

'दिन राति सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं ललचाते रहैं॥'

(स्वयं वेणीमाधवदास इस प्रेमदशा में इतने मग्न हुए कि अपनी परिस्थिति को भूलकर चलते रेखते की प्रेममयी शैली में पड़ गए।)

इस प्रकार गृहस्थी के परमानंद का उपभोग करते हुए पाँच वर्ष एक क्षण के समान बीत गए। वेणीमाधवदास के शब्दों में—

'सर (५) वर्ष परस्पर चार चए। पल ज्यों रस-केलि में बीत गए।
नहिं जान द, आयु न जायँ कहीं। पर एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥'

इसी बीच में जनश्रुति उन्हें तारक नाम के एक बालक के जन्म की बात बताती है जो बहुत दिनों तक जिया नहीं। परंतु मूल चरित में इसका उल्लेख नहीं है।

एक दिन तुलसीदास कार्यवश बरगामन गाँव गए हुए थे। इस बीच उनका साला उनके यहाँ आया। उसे देखकर उनकी स्त्री को अपने नैहर की याद आ गई। उसे अपनी माता और सखी-सहेलियों को देखने की बड़ी उत्कंठा हो उठी। वह जानती थी कि यदि पतिदेव की आज्ञा की प्रतीक्षा करूँगी तो कभी मायके न जाने पाऊँगी। इसलिये वह बिना उनसे पूछे ही, उनके आने के पहले, अपने भाई के साथ नैहर चली आई। जब तुलसीदास बरगामन से लौटकर आए तो प्रिया को घर पर न पाकर बड़े बेचैन हुए।

दासी से यह सुनकर कि वह अपने भाई के साथ मायके गई है, वे आप भी ससुराल के लिये चल पड़े।

कहानी चलती है कि यह रात्रि का समय था। यमुना बाढ़ म थी। डोंगे चलने का समय न था। परंतु तुलसीदास के हृदय म भी प्रेम की बाढ़ आई हुई थी। इसके सामने उन्हें वह कुछ भी मालूम न हुई। किनारे लगे हुए एक शव को नौका समझकर वे उस पर जा चढ़े और हाथों स ही पतवारों का काम लेकर उस पार पहुँच गए। आधी रात के लगभग ये अपने ससुर के मकान के सामने जा खड़े हुए। सब फाटक बंद थे। कोठे पर किसी ने इनकी आवाज न सुनी। कोठे पर चढ़ना भी कठिन था। इनको छज्जों पर से एक रस्सी सी लटकती हुई दिखाई दी। इसी को पकड़कर ये तिवारे पर चढ़ गए। कहानी कहती है कि यह रस्सी नहीं थी, सर्प था। लोगों को रज्जु में सर्प का भ्रम होता है। इनको सर्प में रज्जु का भ्रम हुआ। तिवारे से जब इन्होंने पुकारा तब इनकी स्त्री को मालूम हुआ कि यहाँ भी पतिदेव ने पिंड नहीं छोड़ा है।

शव और सर्प की कथा को अक्षरश सत्य मानने के लिये बहुत ही विश्वासी प्रकृति चाहिए। पर यह कथा चाहे सत्य न हो, उससे तुलसीदास के स्त्री-प्रेम के वेगवान् उद्रेक की जो सूचना मिलती है वह अवश्य सत्य है और वही हमारे काम की है। 'मूल-चरित' में वेणीमाधवदास ने यह सब कथा न लिखकर केवल "कौनिउ विधि सरि पार कर" कहकर उन्हें ससुराल के दरवाजे पर पहुँचा दिया है। संभवत उनके बृहत् गोसाईं-चरित में यह कथा दी हो।

अपने पति का स्वर सुनकर उनकी स्त्री सकपकाकर बाहर आई। अँधेरी रात में इतनी दूर, भयंकर रास्तों को पारकर, आने

पडी और विधि विधान के अनुसार उनका विवाह हो गया। इस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष १० महीने की थी।

तुलसीदास को पत्नी अत्यत रूपवती और धर्मशीला मिली थी। उसके मुखचद्र से घूँघट हटाकर एक ही बार देखने पर उन्होंने अपने आपको उस पर न्योछावर कर दिया। वे उसके प्रेम में इतने मग्न हो गए कि एक घडी भी उससे विलग न हो सकते थे। उनकी इस दशा का वर्णन करते हुए वेणीमाधवदास लिखते हैं—

'दिन राति सदा रँग राते रहै। सुख पाते रहै ललचाते रहै॥'

(स्वय वेणीमाधवदास इस प्रेमदशा मे इतने मग्न हुए कि अपनी परिस्थिति को भूलकर चलते देखते की प्रेममयी शैली मे पड गए।)

इस प्रकार गृहस्थी के परमानद का उपभोग करते हुए पाँच वर्ष एक क्षण के समान बीत गए। वेणीमाधवदास के शब्दों में—

'सर (५) वर्ष परस्पर चाव चए। पल ज्यो रस केलि मे बीत गए।
नहि जान दे, आपु न जायँ कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥'

इसी बीच मे जनश्रुति उन्हे तारक नाम के एक बालक के जन्म की बात बताती है जो बहुत दिनों तक जिया नहीं। परतु मूल चरित मे इसका उल्लेख नहीं है।

एक दिन तुलसीदास कार्यवश बररखासन गाँव गए हुए थे। इस बीच उनका साला उनके यहाँ आया। उसे देखकर उनकी स्त्री को अपने नैहर की याद आ गई। उसे अपनी माता और सखी सहेलियों को देखने की बडी उत्कठा हो उठी। वह जानती थी कि यदि पतिदेव की आज्ञा की प्रतीक्षा करूँगी तो कभी मायके न जाने पाऊँगी। इसलिये वह बिना उनसे पूछे ही, उनके आने के पहले, अपने भाई के साथ नैहर चली आई। जब तुलसीदास बररखासन से लौटकर आए तो प्रिया को घर पर न पाकर बडे बेचैन हुए।

दासी से यह सुनकर कि वह अपने भाई के साथ मायके गई है, वे आप भी ससुराल के लिये चल पडे।

कहानी चलती है कि यह रात्रि का समय था। यमुना बाढ में थी। डोगे चलने का समय न था। परतु तुलसीदास के हृदय में भी प्रेम की बाढ आई हुई थी। इसके सामने उन्हें वह कुछ भी मालूम न हुई। किनारे लगे हुए एक शव को नौका समझकर वे उस पर जा चढे और हाथों से ही पतवारों का काम लेकर उस पार पहुँच गए। आधी रात के बीच ये अपने ससुर के मकान के सामने जा खडे हुए। सब फाटक बद थे। कोठे पर किसी ने इनकी आवाज न सुनी। कोठे पर चढना भी कठिन था। इनको छज्जों पर से एक रस्सी सा लटकती हुई दिखाई दी। इसी को पकडकर ये तिबारे पर चढ गए। कहानी कहती है कि यह रस्सी नहीं थी, सर्प था। लोगों को रज्जु मे सर्प का भ्रम होता है। इनको सर्प मे रज्जु का भ्रम हुआ। तिबारे से जब इन्होंने पुकारा तब इनकी स्त्री को मालूम हुआ कि यहाँ भी पतिदेव ने पिंड नहा छोडा है।

शव और सर्प की कथा को अक्षरश सत्य मानने के लिये बहुत ही विश्वासी प्रकृति चाहिए। पर यह कथा चाहे सत्य न हो, उससे तुलसीदास के स्त्री प्रेम के वेगवान् उद्रेक की जो सूचना मिलती है वह अवश्य सत्य है और वही हमारे काम की है। 'मूल-चरित' मे वेणीमाधवदास ने यह सब कथा न लिखकर केवल "कौनिउ बिधि सरि पार कर" कहकर उन्हें ससुराल के दरवाजे पर पहुँचा दिया है। सभवत उनके वृहत् गोसाई चरित मे यह कथा दी हो।

अपने पति का स्वर सुनकर उनकी स्त्री सकपकाकर बाहर आई। अँधेरी रात म इतनी दूर, भयकर रास्तों को पारकर, आने

के लिये उसने उन्हें फटकारा और गर्व के साथ हँसते हुए यह मीठी चुटकी भी ली कि जितना प्रेम आपका मेरी हाड़-चाम की देह पर है उसका आधा भी यदि रामचद्रजी पर होता तो आप ससार के जाल से छूट जाते।

'हाड-मास की देह मम तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भव भीति'॥

प्रियादास ने भी इस बात का उल्लेख किया है।

स्त्री की इस मीठी झिड़की ने वह काम किया जो ससार भर के उपदेशकों के उपदेश न कर पाते। उसने एक क्षण मे तुलसीदास में महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया। गुरु की दी हुई शिक्षा विशेष रूप से उनके स्मृति पटल पर दौड गई। अपने गुरु के वचन उन्हें बहुत सार्थक जान पडने लगे। वे सोचने लगे—

'नरहरि' कचन कामिनी, इनते रहिए दूरि।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर॥'

इस बात की प्रगाढ अनुभूति ने उनके जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। जो तीव्र हार्दिक प्रेम उनकी गृहस्थी मे स्वर्ग को उतार लाया था वह दूसरी ओर देखने लगा। नववयस्का कोमल सुदरी के स्थान पर अब सदा के लिये राम की रम्य मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई।

स्त्री को जब ज्ञात हुआ कि जो बात उसने सगर्व हँसी मे कही थी वह बहुत दूर तक पहुँच गई है तब उसका गर्व चिता मे बदल गया। उसने बहुत कुछ अनुनय विनय की, पछताई, रोई और कोप दिखाया। बोली—आप मेरा त्याग कर मुझे लांछित करना चाहते हैं। पर कोई युक्ति काम न आई। तुलसीदास तत्काल वहाँ से चल दिए। उनका साला उन्हें मनाने के लिये बहुत दूर तक पीछे पीछे दौडता आया, पर उन्होंने एक न सुनी। तुलसीदास की स्त्री अपनी बात के इस परिणाम के लिये तैयार न थी, परतु जब उसको विश्वास

हो गया कि अब उसके पति गृहस्थी मे न लौटेंगे, तब वह पछताकर मर गई। वेणीमाधव के अनुसार यह घटना सवत् १५८९ की आषाढ बदी १० (२९ मई १५३२ ई०) बुधवार को हुई थी। ज्योतिष की गणना से जाँच करने से यह तिथि ठीक ठहरती है।

जनश्रुति इतनी निष्ठुर नहीं है। वह तुलसीदास की स्त्री को वृद्धावस्था तक जीवित रखती है। उसके अनुसार गोस्वाईजी के घर छोडने के पीछे स्त्री ने उनको यह दोहा लिख भेजा था—

'कटि की खीनी कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे की डर नहा, अनत कटे डर होइ॥'

इसके उत्तर मे गोसाईं जी ने लिखा—

'कटे एक रघुनाथ सँग, बाधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पतिनी के उपदेस॥'

बहुत दिनो के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्रकूट से लौटते समय अनजान में अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढी हो गई थी। विना उन्हे पहचाने ही वह उनके आतिथ्य सत्कार मे लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बाते होने पर उसने अपने पति-देव को पहचाना। उसने इस बात को प्रकट न किया और उनके चरण धोने चाहे, पर उन्होंने धोने न दिए। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ले आ देने को कहा, परतु तुलसीदास ने कहा—यह मेरे झोले म साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहूँ और रामभजन तथा पति-सेवा दोनो एक ही साथ कर अपना जन्म सफल करूँ। रात भर बहुत कुछ आगा-पीछा सोच विचारकर उसने सबेरे अपने को गोसाईं जी के सामने प्रकट किया और साथ रहने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की। पर गोसाईंजी ने उसे साथ लेना स्वीकार न किया। तब साध्वी स्त्री ने कहा—

के लिये उसने उन्हें फटकारा और गर्व के साथ हँसते हुए यह मीठी चुटकी भी ली कि जितना प्रेम आपका मेरी हाड़-चाम की देह पर है उसका आधा भी यदि रामचद्रजी पर होता तो आप ससार के जाल से छूट जाते।

'हाड़-मास की देह मम तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भव भीति'॥

प्रियादास ने भी इस बात का उल्लेख किया है।

स्त्री की इस मीठी झिड़की ने वह काम किया जो ससार भर के उपदेशको के उपदेश न कर पाते। उसने एक क्षण में तुलसीदास में महान् परिवर्तन उपस्थित कर दिया। गुरु की दी हुई शिक्षा विशेप रूप से उनके स्मृति-पटल पर दौड गई। अपने गुरु के वचन उन्हें बहुत सार्थक जान पडने लगे। वे सोचने लगे—

'नरहरि' कचन कामिनी, इनते रहिए दूरि।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर॥'

इस बात की प्रगाढ अनुभूति ने उनके जीवन का प्रवाह ही बदल दिया। जो तीव्र हार्दिक प्रेम उनकी गृहस्थी मे स्वर्ग को उतार लाया था वह दूसरी ओर देखने लगा। नववयस्का कोमल सुदरी के स्थान पर अब सदा के लिये राम की रम्य मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई।

स्त्री को जब ज्ञात हुआ कि जो बात उसने सगर्व हँसी मे कही थी वह बहुत दूर तक पहुँच गई है तब उसका गर्व चिता मे बदल गया। उसने बहुत कुछ अनुनय विनय की, पछताई, रोई और कोप दिखाया। बोली—आप मेरा त्याग कर मुझे लांछित करना चाहते हैं। पर कोई युक्ति काम न आई। तुलसीदास तत्काल वहाँ से चल दिए। उनका साला उन्हें मनाने के लिये बहुत दूर तक पीछे पीछे दौड़ता आया, पर उन्होने एक न सुनी। तुलसीदास की स्त्री अपनी बात के इस परिणाम के लिये तैयार न थी, परतु जब उसको विश्वास

हो गया कि अब उसके पति गृहस्थी में न लौटेंगे, तब वह पछता-कर मर गई। वेणीमाधव के अनुसार यह घटना संवत् १५८६ की आषाढ बदी १० (२६ मई १५३२ ई०) बुधवार को हुई थी। ज्योतिष की गणना से जाँच करने से यह तिथि ठीक ठहरती है।

जनश्रुति इतनी निष्ठुर नहीं है। वह तुलसीदास की स्त्री को वृद्धावस्था तक जीवित रखती है। उसके अनुसार गोसाईंजी के घर छोड़ने के पीछे स्त्री ने उनको यह दोहा लिख भेजा था—

'कटि की खीनी कनक सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटे की डर नहीं, अनत कटे डर होइ॥'

इसके उत्तर में गोसाईं जी ने लिखा—

'कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पतिनी के उपदेस॥'

बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्र-कूट से लौटते समय अनजान में अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। बिना उन्हें पहचाने ही वह उनके आतिथ्य सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बातें होने पर उसने अपने पति-देव को पहचाना। उसने इस बात को प्रकट न किया और उनके चरण धोने चाहे, पर उन्होंने धोने न दिए। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ले आ देने को कहा, परंतु तुलसीदास ने कहा—यह मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहूँ और रामभजन तथा पति-सेवा दोनों एक ही साथ कर अपना जन्म सफल करूँ। रात भर बहुत कुछ आगा पीछा सोच विचारकर उसने सबेरे अपने को गोसाईं जी के सामने प्रकट किया और साथ रहने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की। पर गोसाईंजी ने उसे साथ लेना स्वीकार न किया। तब साध्वी स्त्री ने कहा—

'खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥'

थोड़े से भेद से यह दोहा दोहावली में इस प्रकार मिलता है—

'खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, विमल विवेक विराग॥'

यह सुनते ही गोसाईंजी ने अपने झोले की सब वस्तुएँ ब्राह्मणों को बाँट दीं।

जनश्रुति के इन कथानकों के आधार पर ऊपर लिखे दो दोहे हैं जो तुलसीदासजी के लिखे कहे जाते हैं। उनकी स्त्रीवाले दोहे की कल्पना 'कटे एक रघुनाथ सँग' वाले दोहे के लिये अवसर निकालने के उद्देश्य से की गई है। थोड़े से फेर फार से ये दोहे गृहत्याग के ही समय के वार्त्तालाप के व्यंजक भी हो सकते हैं। 'खरिया खरी कपूर' वाले दोहे में तो तुलसीदासजी की स्त्री का उसी समय का भाव व्यक्त किया गया है। इसका संकेत वेणीमाधवदास के इस सोरठे से मिलता है—

'टखि रत तिय अकुलाय, बोली वचन सकोप तब।
"त्याग न उचित कहाय, बिनु निय सुख खरिया रच"॥'

जिस कोमल आत्मा को केवल अनन्य प्रेम का अनुभव करने को मिला था, यदि उसने अनंत वियोग की क्रूरता को न सह सकने के कारण देह को परित्याग कर दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

पर तुलसी-चरित में विवाह और वैराग्य की बात और ही तरह से दी है। उसमें तुलसीदास के एक नहीं, तीन विवाह कराए गए हैं। इनकी पहली दो स्त्रियाँ किसी भार्गव ब्राह्मण की पुत्रियाँ थीं जो, एक के बाद दूसरी, मर गई थीं। इनका तीसरा ब्याह कंचनपुर गाँव के लक्ष्मण उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती से हुआ था। वह अत्यंत धर्मशीला, गुणवती और ज्ञानवती थी। उसे पुराणों की

कथा सुनने का बडा चाव था। तुलसीदास के विवाहों से उनके पिता को खूब धन-लाभ हुआ था। पहले विवाह मे उन्हें तीन सहस्र मुद्राएँ मिली थीं और तीसरे मे छ सहस्र। दूसरे विवाह में भी कुछ दहेज मिला ही होगा। तीसरा विवाह माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। माता पिता कदाचित् इसलिये विरुद्ध थे कि घर का काम-काज चलाने के लिये जितना आवश्यक है, बुद्धिमती उससे ज्यादा पढी लिखी थी। इसी लिये शायद लक्ष्मण उपाध्याय से छ हजार की गहरी रकम भी माँगी गई। कहते हैं, इसी तीसरी स्त्री के उपदेश से तुलसीदास को वैराग्य हुआ था।

तुलसी-चरितवाले कथानक को यदि सत्य मानते हैं तो पिता के द्वारा त्याग दिए जाने की कथा झूठी ठहरती है, परतु जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं, पिता के द्वारा त्याग दिए जाने की बात स्वय तुलसीदासजी के वचनों से सिद्ध है। अतएव तुलसी चरित की विवाह सबधी बाते माननीय नहीं हैं। इसके अतिरिक्त रघुबरदास ने तुलसीदासजी के घर से वैरागी होने के लिये निकलने पर जो दशा बताई है, वह उस व्यक्ति की सी नहीं है जिसके हृदय मे वैराग्य का उदय हुआ हो। उससे उनका हृदय वैराग्य की अनुभूति से रहित जान पडता है। वे घर से जबर्दस्ती निकाले हुए से लगते हैं। इस समय रघुनाथ पडित ने उन्हे 'सिसोक आतुर गति-धारी' देखा था। इस पडित से बुद्धिमती के विषय मे तुलसीदास ने कहा था—

'अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोड़ाइ॥'

यह ऐसे व्यक्ति का सा वर्णन नहीं है जिसके हृदय में वैराग्य की अनुभूति हो। तुलसीदासजी का जो रूप उनके ग्रथों से प्रस्फुटित होता है, यह उसके प्रतिकूल पडता है। और जो कुछ हो, इतनी बात निर्विवाद है कि तुलसीदास का विवाह हुआ था और अपनी

स्त्री के ही कारण उनको वैराग्य हुआ था। जो स्त्री ससार का बधन समझी जाती है वही उन्ह बधन से मुक्त करने का निमित्त हुई। गोसाईजी स्वय लिखते हैं—

'हम तो चाखा प्रेम रस, पतिनी के उपदेस।'

जो लोग "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं"—विनय पत्रिका मे लिखे इस वाक्य के आधार पर उनका विवाह होना नहा मानते वे उसका अर्थ नहीं समझते। इसका यही अभिप्राय है कि मुझे अब ब्याह-बरेखा नहा करना है और न जाति का ही चाह है। यह विरक्तावस्था का वचन है। इससे जो बात पहले हो चुकी हो उसका निराकरण नहा किया जा सकता।

---

(६) खोज

तुलसीदास का हृदय वैराग्य मे प्रतिष्ठित हो गया था। परन्तु अभी आभ्यतर के अनुकूल वाह्य वेश बनाना शेष था। अपनी ससुराल से सीधे प्रयाग आकर उन्होंने यह काम पूरा किया। गृहस्थ का वेश त्यागकर उन्होंने विरक्त का वेश धारण किया। यह नहीं प्रकट होता कि उन्होंने किसी सांप्रदायिक रीति का अनुसरण कर नवीन गुरु से वैराग्य की दीक्षा ली हो। बहुत समय पीछे रामायण की रचना करते हुए सवत १६३१ मे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम म दीक्षित करनेवाले नरहरिजी का हा गुरु के स्थान पर स्मरण किया है। वास्तव मे विरक्ति की शिक्षा नरहरिजी दे चुके थे, जो अनुकूल अवसर पाकर फलीभूत हुई।

अब तुलसीदास का जी ससार से उचट गया। उनकी वृत्तियो के एकमात्र लक्ष्य अब राम रह गए थे। उन्हीं परब्रह्म परमात्मा राम के साक्षात्कार के लिये वे व्यग्र हो रहे थे। एक स्थान पर उन्हें चैन नहा मिलता था। वे अपने राम की खोज मे निकल पडे। पहले उन्होंने रामचद्र के जन्मस्थान अयोध्या नगरी की ओर प्रस्थान किया। फफहाँ और गढहीले होते हुए, गोमती और तमसा को पारकर, वे अयोध्याजी पहुँचे। वहाँ अच्छा सत-समागम रहा। अयाध्या की जड चेतन सभी वस्तुएँ तुलसीदास को अत्यत प्रिय हो गई। जिस नगरी मे उनके राम ने जन्म लिया था उसका कण कण क्यों न उन्हें प्रिय हो! इसमे आश्चर्य ही क्या है? प्रभु के यश का कीर्तन और श्रवण करते हुए चातुर्मास अयोध्याजी मे बिताकर उन्होंने चारो धाम की यात्रा करने का निश्चय किया।

अयोध्या से चलकर पचीस दिन मे वे जगन्नाथपुरी पहुँचे। इस बीच मार्ग मे दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई। वेणीमाधवदास ने बडा उत्सुकता के साथ मूल चरित मे उनका उल्लेख किया है। उनमे से एक दुबौली गाँव में हुई। दूसरी का मूल चरित में स्थान निर्देश नहीं है, पर कहते हैं कि वह चेंकुल गाँव मे हुई। दुबौली मे गुसाईंजी चार घडी रहे थे। वहाँ हरिराम कुमार से रुष्ट होकर उन्होने उसे शाप दे दिया जिससे वह प्रेत हो गया। वेणीमाधवदास के अनुसार इसा प्रेत ने आगे चलकर रामदर्शन मे गोसाईंजी को सहायता दी। जिला सारन की तरफ ये हरिराम ब्रह्म बहुत प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि इन्होंने कनकशाही विमेन के अत्याचार स उकताकर आत्महत्या कर डाली थी। यह भी किंवदती है कि गोसाईंजी उसके यज्ञोपवीत सस्कार के अवसर पर वहाँ विद्यमान थे। इससे गोसाईंजी और हरिराम की विपत्ति से सबध जोडना बहुत सरल हो गया। गोसाईंजी के ही शाप से उस पर आपत्ति आई। अपने समय के भले बुरे छोटे-बडे सब कामों मे गोसाईंजी का हाथ होना ही चाहिए। किन परिस्थितियों मे हरिराम गोसाईंजी के कोप का भाजन हुआ, उसकी भी जनमेजय और परीक्षित की कथा ने सामग्री प्रस्तुत कर दी जिसका किसी नवीन हरिराम ब्रह्म-चरित में उपयोग किया गया है। उसी से पंडित रामकिशोर शुक्ल ने कुछ पक्तियाँ उद्धृत की हैं। उनके अनुसार गोसाई जी को सध्या में मग्न देखकर दुबौली के सब नटखट लडके उनके ऊपर ढेला मारने लगे। जब गोसाई जी का ध्यान टूटा तो और तो सब डरकर भाग गए, परतु हरिराम ढेले चलाता ही रहा। इसी से गोसाई जी ने उसे शाप दे दिया कि जा, राक्षस हो जा। इसा से उसे आत्म हत्या करके ब्रह्म होना पडा।

चेंकुल गाँव में चारुकुँअरि नाम की एक ब्राह्मणी रहती थी। वह सदा साधु-सतों का सेवा मे तत्पर रहती थी। तुलसीदास ने

उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद दिया। क्या आशीर्वाद दिया, इसका उल्लेख वेणीमाधवदास ने नहीं किया है। परतु किंवदंती है कि गोसाईंजी ने उसे वर दिया कि जिस वस्तु पर तू हाथ रख देगी वह व्यय करने पर भी समाप्त न होगी, ज्यो की त्यो बनी रहेगी।

गोसाईंजी जगन्नाथपुरी में कुछ दिन रहे। सत्सग और देवार्चन के उपरांत उन्हे यहाँ जो कुछ अवकाश मिल जाता उसमे वे वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करते थे। वेणीमाधव के लेख से तो ऐसा भान होता है मानों गोसाईंजी ने यहाँ सपूर्ण रामायण की प्रतिलिपि की हो। परतु 'कछुक दिना' मे 'जब तब लहि अवकास' इतने बड़े पोथे की प्रतिलिपि नहा की जा सकती। आगे चलकर फिर काशी में गोसाईंजी के वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करने का उल्लेख है। हमारा अनुमान है कि गोसाईंजी ने जगन्नाथपुरी मे वाल्मीकीय रामायण की प्रतिलिपि करना आरभ किया। बहुत समय तक यह अधलिखी पडी रही, किंतु फिर सवत् १६४१ में काशीजी में सपूर्ण हुई।

पुरी से वे रामेश्वरम् गए, रामेश्वरम् से द्वारावती और द्वारावती से बदरिकाश्रम। जनसाधारण मे यह विश्वास प्रचलित है कि महर्षि व्यास अब तक जीवित हैं और बदरीधाम मे तपश्चर्या कर रहे हैं। व्यासजी नारायण के अवतार माने जाते है। बदरीनाथजी के मदिर में नर-नारायण की मूर्तियाँ भी हैं। सभवत इसी आधार पर यह प्रवाद चल पडा हो। वेणीमाधवदास भी अपने गुरु की नारायणरूप व्यास से भेट कराते हैं। व्यासजी के मुँह से मानसरोवर-माहात्म्य सुनकर तुलसीदास के हृदय में उसे देखने की उत्कट उत्कंठा हुई। मानसरोवर कैलाम पर्वत पर है। वहाँ जाने का मार्ग अत्यत दुर्गम है। दुरारोह पर्वतो पर चढना और उतरना होता है। बहुत कम लोग वहाँ जाने का साहस कर सकते हैं। वही वहाँ

जा सकता है जो अपने प्राणों का लोभ त्याग दे। इन सब बातों से तुलसीदास हतोत्साह न हुए। मानसरोवर का दर्शन करके वे कृतार्थ हुए। मानसरोवर के दर्शन से वे इतने प्रभावित हुए कि राम-चरित की उन्होंने उसी एक सरोवर से तुलना की। रामचरित मानस के रूपक के व्याज से गोसाईंजी ने मानसरोवर के काई रहित और भेकों से अस्पृष्ट निर्मल जल, वहाँ के भयावह पथ और अति दुर्गम विशाल शैलों और नाना भयकर नदियों तथा वहाँ के स्तब्धकर शीत और जूडी ज्वर का वर्णन किया है। सच्ची लगन-वाले साधु ही, भगवान् की दया से, वहाँ पहुँच सकते हैं। इस कारण सच्चे सत्सग का सुख वहीं मिलता है। तुलसीदास को इस दिव्य सत्सग से बडा आनद हुआ। मानसरोवर से वे रूपाचल और नीलाचल पर्वतों का दर्शन करने गए। यह मनुष्य की शक्ति से बिल्कुल बाहर है। परतु गोसाईं जी को अदृश्य भगवत्सहाय प्राप्त था। इस दिव्य सहायता से वे इन पर्वतों का दर्शन कर कैलास की प्रदक्षिणा करते हुए सकुशल मानसरोवर लौट आए। नीलाचल पर्वत पर उन्हें सतप्रवर परम भक्त भुशुडीजी के दर्शन हुए थे।

इस प्रकार यात्रा में १४ वर्ष १० मास और १७ दिन बिता कर तुलसीदासजी ने चित्रकूट के पास भव-वन में अपना आश्रम बनाया और वे वहाँ रहने लगे। अपनी अनन्य राम-भक्ति के कारण वे वनवासी सतों के आदर और प्रीति के भाजन हो गए। यहाँ भी गोसाईंजी की रामकथा धूमधाम से होने लगी। सभी सत लोग उसमें अपने आपको भूलने लगे। उनकी कथा में भक्ति रस का जो अजस्र स्रोत बहता था उसकी अनन्यता ने भक्त भूषण श्री हनुमानजी को भी आकर्षित किया। जिससे कोई उन्हें पहचान नहीं, वे कोढी के वेश में कथा सुनने के निमित्त आने लगे। वे सब श्रोताओं

से पहले कथा-मडप मे आ बैठने और सब से पीछे जाते। परतु तुलसीदास को यह रहस्य ज्ञात नहीं था।

कहते हैं कि इसी वन मे पीपल का एक बृहदाकार वृक्ष था। तुलसीदास उसके आस पास ही शौच निवृत्ति के लिये जाया करते थे। शौच से जो कुछ जल बच रहता था उसे वे उसकी जड पर डाल देते थे। यह उनका नित्य नियम हो गया था। इस पेड पर एक प्रेत रहता था। पाठकों को याद होगा कि जगन्नाथजी जाते हुए दुबौली में गोसाईंजी ने हरिराम कुमार को शाप दिया था। यह उसी की प्रेतात्मा थी। अब तक उसका प्रेत शाप की अग्नि मे जलता रहता था। इस जल को पीकर उसको कुछ शांति मिल जाती थी। जब उसने तुलसीदासजी को पहचाना तब उसे अत्यत हर्ष हुआ। उसने सोचा कि यदि मुझसे गोसाईंजी की थोडी सी भी सेवा बन पडे तो मेरे पिछले कर्म का, जिसके कारण मैं उनके क्रोध का भाजन हुआ था, कुछ प्रायश्चित्त हो जाय। इस विचार से उसने एक दिन प्रकट होकर गोसाईंजी को नमस्कार किया और कहा कि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिए, मैं करने को प्रस्तुत हूँ। भला गोसाईंजी क्या चाहते। उनको ससार की किसी वस्तु की इच्छा न थी। उनकी समस्त वासनाएँ रामाभिमुख था। उन्होने कहा—"यदि तुममे शक्ति है तो कोई ऐसा उपाय बतलाओ जिससे रामजी के दर्शन मिल।"

प्रेत ने विनम्र होकर उत्तर दिया—"भगवन्, मैं तो एक असमर्थ प्रेतात्मा हूँ। यह शक्ति मुझमे कहाँ कि आपको रामचद्रजी के दर्शन करा सकूँ। हाँ, आपके यहाँ कथा सुनने के लिये नित्य प्रति हनुमानजी आया करते हैं, यदि आप उनसे प्रार्थना करे तो वे अवश्य आपका अभिलाष पूर्ण करेंगे।"

तुलसीदासजी ने कहा—"किंतु मैं उन्हें पहचानूँगा कैसे। क्योंकि वे तो वेश बदलकर आते होंगे।" प्रेत ने उन्हें बता दिया कि

वे कोढ़ी के वेश म रहते हैं, मबसे पहले कथा-मडप मे आते हैं और मबसे पीछे जाते हैं।

एक दिन कथा समाप्त हो जाने पर जब सब लोग चले गए, गोसाईंजी अवसर पाकर हनुमानजी के चरणों पर गिर पडे। हनुमानजी ने उन्हें कई प्रकार से टालना चाहा। परतु तुलसीदास को वे किसी प्रकार न टाल सके। उन्होंने प्रेमाश्रुओं से हनुमानजी के चरणों को धो डाला। हनुमानजी भी अपने आपको न रोक सके। उनकी आँखों से अविरल अश्रु धारा बह चली। उन्होंने गोसाइ जी को गले से लगा लिया और गद्‌गद कठ से उन्हें चित्रकूट रहने का उपदेश दिया तथा यह आश्वासन दिया कि वहाँ अवश्य तुम्हें रामजी के दर्शन होंगे।

हनुमानजी के आदेशानुसार तुलसीदास चित्रकूट को चले। उनके हृदय मे भक्ति और आनद का सागर उमड रहा था। पल पल पर उनकी रामदर्शन की अभिलाषा बढ रही थी। नाना सकल्प विकल्प उनके हृदय म उठ और बैठ रहे थे। वे अपने कृत्यों को इस योग्य न समझते थे कि उनको रामजी के दर्शन मिल सकें। परतु फिर वे सोचते थे कि रामचद्र तो पतितपावन हैं, वे भक्तों के दोषों की ओर दृष्टिपात नहीं करते, प्रत्युत उनका उद्धार करने के लिये सर्वदा तत्पर रहते हैं। इस विचार से उनकी मनोवांछा और भी तीव्र हो जाती। चित्रकूट जाकर गोसाईंजी ने रामघाट पर आसन जमाया। इसी प्रकार की उत्कट अभिलाषा को लिए हुए एक बार व चित्रकूट की प्रदक्षिणा के लिये गए। वहाँ उन्होंने क्या देखा कि दो अभिराम राजकुमार घोडे पर चढे आखेट कर रहे हैं। उनके सुदर रूप को देखकर गोसाईंजी मुग्ध हो गए। परतु उनका यह भेद मालूम न हुआ कि व कौन हैं। जब वे राजकुमार अतर्धान हो गए तब हनुमानजी ने प्रकट होकर भेद

खोला कि वे राम और लक्ष्मण थे। अब तुलसीदासजी को पछतावा हुआ और वे बड़े विकल हो गए। किंतु फिर हनुमानजी ने उन्हें धीरज और आशा दी कि कल प्रात काल फिर तुम्हें दर्शन होंगे।

दूसरे दिन प्रात काल गोसाईंजी रामभजन म मग्न होकर रामघाट पर बैठे। वे राम-विरह से अत्यत व्याकुल थे। इसी समय रामचद्रजी ने प्रकट होकर कहा—"बाबा, चदन दो।" तुलसीदासजी देने के लिये चदन घिसने लगे। हनुमानजी ने तुलसीदास को यह सकेत करने के लिये कि यही रामचद्र हैं तोते के रूप में प्रकट होकर आकाश से यह दोहा पढा—

'चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चदन घिसें तिलक देत रघुबीर॥'

तुलसीदास निर्निमेष नेत्रों से रामचद्रजी की सुदरता देखने लगे और अपने आपको बिल्कुल भूल गए। चदन घिसना भूलकर वे मूर्च्छित होकर बैठे रह गए। रामचद्र के बार बार कहने पर भी जब तुलसीदास ने नहीं सुना तो रामचद्रजी स्वय तिलक लेकर अतर्हित हो गए। तुलसीदास को विरह की अवस्था में वहीं रात हो गई। उन्हें घर जाने का ध्यान न आया। उनकी विरह-व्यथा जब बढती ही गई तब हनुमानजी ने प्रगट होकर उनको स्वस्थ किया। इस समय से तुलसीदासजी की भक्ति की महिमा और भी फैल गई।

वेणीमाधवदास के कथनानुसार एक बार नहीं, कई बार तुलसीदासजी को राम-दर्शन हुए थे—

'नित नित विहारहु देखत हैं। मृगया रस कौतुक पेखत हैं।'

स्वय तुलसीदासजी ने अपनी विनयपत्रिका के एक पद में इस घटना की ओर सकेत किया है—

तुलसी तोको कृपालु जो, कियो कोसलपाल।
चित्रकूट को चरित्र, चेतु चित करि सो॥'

हो सकता है कि हनुमानजी की आदर्श प्रभु-भक्ति को सामने रखकर ही उन्होंने अपनी भक्ति को पारमात्मिक मिलन की अनुभूति से फलीभूत किया हो, इसी से हनुमानजी की सहायता से उनको रामदर्शन प्राप्त होना कहा गया हो। यह भी संभव है कि उस कोढ़ी को, जो प्रेम से उनकी कथा सुना करता था, उसकी अनन्य भक्ति के कारण ही गोसाईंजी ने हनुमानजी की समानता दी हो जिससे इस किंवदंती के लिये आधार मिला हो।

परंतु उनके कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि उन्हें किस रूप में परमात्मा का दर्शन हुआ था। क्या सचमुच भगवान् ने मनुष्य का रूप धारण कर उन्हें दर्शन दिए थे? कई साधु संत महात्माओं के विषय में कहा जाता है कि उन्हें परमात्मा के दर्शन हुए थे। कबीर ने कई स्थलों पर स्वयं कहा है कि मैंने परमात्मा को देखा है। मध्य युग के कई यूरोपीय संतों के विषय में भी यही बात कही जाती है। परंतु इन्होंने परमात्मा को चर्म चक्षुओं से देखा हो, यह बात नहीं है। कबीर ने स्पष्ट कहा है कि चर्म-चक्षुओं से परमात्मा के दर्शन नहीं होते। परमात्मा का दर्शन आंतरिक अनुभूति नेत्र की बात है, बाहरी इंद्रिय-जगत् की नहीं। विलियम जेम्स मध्य-कालीन यूरोपीय संतों के विषय में विवेचना करते हुए इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। इन यूरोपीय संतों ने भी अपनी हार्दिक अनुभूति के क्षेत्र में ही परमात्मा के दर्शन किए थे, चर्म चक्षुओं से नहीं। गोसाईंजी भी परमात्मा के निर्गुण रूप की हार्दिक अनुभूति होना मानते हैं, परंतु साथ ही इस आंतरिक अनुभूति के सहकार में उसका प्रत्यक्ष साक्ष्यभूत बाह्य सगुण रूप का दर्शन होना भी वे मानते हैं—

'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'

भीतरी खोज के लिये वे बाहरी खोज आवश्यक समझते थे। जो लोग परमात्मा को अन्तर्यामी समझकर बाहर उसकी खोज करना अनुचित समझते थे उनका गोसाईंजी ने उपहास किया है—

'कहत सकल घट राममय तो खोजत केहि काज।
तुलसी कहँ यह कुमति सुनि उर आवत अति लाज॥'

प्रतीत होता है कि गोसाईंजी के अनुसार धनुर्बाणधारी रूप ही ब्रह्म राम का पट-रूप है जिसमें मुक्तात्माओं को दर्शन मिलते हैं। रामचरितमानस में तुलसीदासजी राम के रहने का स्थान बतलाते हुए कहते हैं—

'सब तजि तुम्हहि रहहि लय लाइ।
तिन्हके हृदय रहहु रघुराइ॥
सरगु नरगु अपबरगु समाना।
जहँ तहँ देख धरे धनुबाना॥'

यह भी हो सकता है कि गोसाईंजी को मृगया-विहारी रामचन्द्र की ही मूर्ति सबसे अच्छी लगती थी। उनकी वही मूर्ति उनके हृदय में रमती थी। अतएव ध्यानावस्था में वही मूर्ति उनके सामने आ जाती थी। गीतावली में उन्होंने मृगया-विहारी राम का जो मनोमुग्धकारी वर्णन किया है उससे पता चलता है कि उस मूर्ति पर उनका कितना गहरा ध्यान था—

'सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया बन, बसति सो मूरति मन मोरे॥
× × ×
जटा मुकुट सिर सारस नयननि, गौंहे तकत सु भौंह सकोरे॥'

चाहे गोसाईंजी को आंतरिक अनुभूति हुई हो, अथवा उन्होंने किंवदंती के ही अनुकूल राम को धनुर्धारी राजकुमार के रूप में देखा हो, परन्तु यह तो निश्चित है कि यह घटना चित्रकूट की है। जिस

खोज के लिये उन्हे उनकी प्रिय पत्नी ने अनजान में प्रेरित किया था वह चित्रकूट में समाप्त हुई। पहले पहल यहीं उनको राम के दर्शन हुए। इसी कारण चित्रकूट के लिये आजन्म उनके हृदय म ऊँचा स्थान रहा। चित्रकूट के दर्शनों के लिये जाते हुए उनके हृदय में बडा उत्साह भर जाता था—

'अब चित चेत चित्रकूटहि चलु।
भूमि बिलोकु राम-पद अंकित, बन बिलोकु रघुबर बिहार थलु॥'

कई जगह उन्होंने चित्रकूट का वर्णन किया है और उसकी महिमा गाई है। विनयपत्रिका के दो पदो मे चित्रकूट का बडा माहात्म्य कहा गया है। उसे यहाँ तक महत्त्व दिया गया है कि राम-भक्ति सपादन का एक साधन यह बतलाया गया है कि नियम-पूर्वक चित्रकूट जाकर रहे—

'सब सोच बिमोचन चित्रकूट, कलिहरन, करन कल्यान बूट।

× × × × × ×

तुलसी जो रामपद चहिय प्रेम, सइय गिरि करि निरुपाधि नेम।'

चित्रकूट का स्मरण आते ही उनके हृदय म कविता का स्रोत उमड पडता था। रामचरितमानस और गीतावली मे चित्रकूट के जो वर्णन दिए गए हैं, वे हिंदी-साहित्य में प्रकृति-सबधी स्वाभाविक ऊँची श्रेणी की कविता के बहुत सुदर उदाहरण हैं—

'सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत॥
चहुँ दिसि बन संपन्न, बिहँग मृग बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँग मँग सृगनि।
मानहुँ आदि अँभोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृगनि॥

सिखर परस घन घटहि मिलति बग पाँति सो छबि कबि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥
जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ, बन प्रतिबिंब तरंग ।
मानहुँ जगरचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अंग ॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि झरि भरि भरि जल आछे ।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ राम भगति के पाछे ॥'

(७) पर्यटन

जनश्रुति है कि एक समय गोसाईं जी भृगु आश्रम, हसनगर, परसिया, गायघाट, ब्रह्मपुर, कांत ब्रह्मपुर होते हुए बेला पतार गए थे। बेणीमाधवदास के अनुसार जनकपुर जाते हुए ये स्थान गोसाईं जी को मार्ग में पड़े थे। काशी से उन्होंने यह यात्रा आरंभ की थी। भृगु-आश्रम और हसनगर होते हुए वे गायघाट पहुँचे। वहाँ उन्होंने राजा गंभीरदेव का आतिथ्य स्वीकार किया। गंभीरदेव हैहयवंशी क्षत्रिय थे। उनके वंशज अब भी वर्तमान हैं, परंतु अब वे गायघाट मे न रहकर हल्दी गाँव में रहते हैं।

गायघाट से आगे ब्रह्मपुर गाँव पड़ता है। वहाँ ब्रह्मेश्वर-नाथ महादेव का मंदिर है। शिवरात्रि को यहाँ बड़ा मेला लगता है। इस गाँव से होते हुए महादेवजी का दर्शन कर गोसाईं जी कांत ब्रह्मपुर पहुँचे। यह अहीरों का गाँव था। इस गाँव के लोगों को उन्होंने बिलकुल राक्षसी भावों में लिप्त पाया। अतएव आतिथ्य सत्कार की आशा त्यागकर वे आगे बढ़े। इतने में उन्हें मँवरू अहीर का लड़का मँगरू अहीर मिला। वह बड़े आदर से उन्हें अपने घर ले गया। जो कोई साधु संत उधर से होकर जाते उनका श्रद्धा सहित अतिथि-सत्कार करना उसने अपना नियम बना रखा था। गोसाईं जी को भी उसने ताजा दूध दुहाकर श्रद्धापूर्वक अर्पित किया। गोसाईं जी ने उसका खोआ बनाकर खाया। मँगरू के सद्भाव और उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उन्होंने उससे वर माँगने को कहा। मँगरू ने निवेदन किया कि यदि आप प्रसन्न हों हैं तो मुझे एक तो यह वर दीजिए कि प्रभु के चरणारविंदों में मेरा दृढ़ विश्वास हो और दूसरे यह कि मेरा वंश बढ़े। तुलसीदास

ने कहा कि जो तुम और तुम्हारे वंश के लोग न किसी को सतावेंगे और न किसी की चोरी करेंगे तो तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। मँगरू ने गोसाईंजी की शर्त को पूरा निभाया। उसका वंश खूब फूला फला और उसके वंशज अब तक वर्तमान हैं। वे भी उसे यथावत् निभाते चले आ रहे हैं। यद्यपि शाहाबाद और बलिया जिले के लोग चोरी करने में प्रसिद्ध हैं, पर मँगरू के वंशजों की सादगी, सचाई और अतिथि-सेवा कहावत हो गई है। गोसाईंजी के आतिथ्य की बात इन जिलों में बहुत प्रसिद्ध है।

वहाँ से गोसाईंजी बेला पतार गए और साधु धनीदास के मठ में टिके। यह साधु बड़ा धूर्त था। कहता था कि ठाकुरजी को मैं जो कुछ भोग चढ़ाता हूँ वे उसमें से खाय पाते हैं। वास्तविक बात यह थी कि जिस आले में भोग का थाल रखा जाता था उस पर एक परदा पड़ा रहता था जिसके पीछे एक चूहा रखा रहता था। यही चूहा भगवान् के बदले भोग लगाता था। जब लोग थाल देखने आते थे तो आहट पाते ही चूहा भाग जाता था और लोग समझते थे कि वास्तव में ठाकुरजी ने ही भोग लगाया था। इससे इसकी ख्याति खूब फैली। बड़े बड़े लोग इसके दर्शनों को आने लगे। वहाँ के राजा रघुनाथसिंह भी एक दिन यह कौतुक देखने आए। वह साधु की धूर्तता को भाँप गए। जाँच करने पर आले में चूहा देखकर उनका संदेह और भी पुष्ट हो गया। उन्हें साधु पर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने उससे कहा कि एक मास के बीतने पर मैं फिर ठाकुरजी को भोग लगाते देखने आऊँगा। उस समय यदि ठाकुरजी मेरे सामने भोग न लगायेंगे तो तुम सूली पर चढ़ा दिए जाओगे। जिस समय गोसाईंजी मठ में पहुँचे उस समय धनीदास अपनी मृत्यु निश्चय समझ अपने अंतिम दिन गिन रहा था, खाना पीना सब छोड़े हुए था। अपने किए पर

उसे वास्तविक पश्चात्ताप हो रहा था। इस पश्चात्ताप मे आगे के सुधार के बीज देखकर गोसाईंजी ने उसे धैर्य बँधाकर भोजन कराया। अवधि समाप्त होने पर रघुनाथसिंह आए। गोसाईंजी ने उन्हें समझा बुझाकर धनीदास की परीक्षा लेने से विमुख कर दिया, जिससे उसकी पत रह गई और प्राण बचे। गोसाईंजी ने कुछ इस प्रकार रघुनाथसिंह को समझाया—"भगवान् झूठे भक्तों का भी उद्धार करते हैं। अजामिल ने कौन बडी भक्ति की थी। इसी भाँति आप लोग भी अपने मूर्ख पुरोहित को दान दिया ही करते हो। भक्त झूठा-सच्चा जैसा कुछ भी हो भगवान् के नाम की आड लेता है, इसलिए अवध्य है।" यह दोहा इसी समय का जान पड़ता है—

'तुलसी झूठे भगत की पत राखत भगवान।
ज्यों मूरख उपरोहितहि देत दान जजमान॥'

रघुनाथसिंह को गोसाईंजी की बात माननी पडी, क्योंकि उनके प्रति उसके हृदय मे स्वत श्रद्धा उमड पडी थी। उसने उन्हें अपने महल में पधारने का निमंत्रण दिया। वहाँ उनका गोविंद मिश्र नामक एक बडे भक्त ब्राह्मण से साक्षात्कार हुआ। मिश्रजी बडे तपोनिष्ठ और चमत्कारी महात्मा समझे जाते थे। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि उनकी दृष्टि पडने से कडे से कडा लोहा पिघल जाता था। गोसाईंजी के कहने से राजा ने गाँव का नाम बदल कर रघुनाथपुर रख दिया। इससे दो उद्देश्यों की पूर्ति हुई। एक तो वह नाम रघुनाथसिंह का स्मारक हो गया और दूसरे इसी बहाने रघुनाथ रामचंद्रजी के नाम-स्मरण का भी साधन हो गया। यह स्थान अब तक इसी नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ पर गोसाईंजी का चौरा भी है। इसी के पास एक गाँव कैथी है। कहते हैं कि वहाँ के प्रधान जोरावरसिंह ने भी गोसाईंजी का आतिथ्य-सत्कार किया था और वे उनके शिष्य हो गए थे।

वहाँ से गोसाईंजी हरिहरक्षेत्र पर सगम मे स्नान करके पट्पदी होते हुए जनकपुर पहुँच गए। पट्पदी जनकपुर के बिल्कुल पास ही है। यहाँ किसी के यहाँ खीर खाई। खीर एक लडकी ने परसी थी। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि स्वय सीताजी ने बालिका-रूप मे उन्हें खीर का प्रसाद दिया था।

हाला के ब्राह्मणों को बहुत प्राचीन काल से हाला आदि १२ गाँवों की वृत्ति मिलती थी। कहते हैं कि सीताजी के विवाह के समय से उन्हे यह वृत्ति मिलती थी। तिरहुत सूबा के नवाब ने, जो बडा हठी और कलह-प्रिय था, उनकी यह वृत्ति छीन ली थी। इससे उनमे बडा असतोष फैला हुआ था। गोसाईंजी का आना सुनकर उन्होने उनसे अपना कष्ट निवेदन किया। गोसाईंजी की मत्रणा और प्रयत्न से उन्हें उनकी वृत्ति वापिस मिल गई। किवदती है कि हनुमानजी की सहायता से गोसाईंजी ने यह काम किया था और नवाब को दड भी दिलाया था। परतु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि किवदती के हनुमानजी के स्थान पर मानसिंह, अब्दुर्रहीम खानखाना आदि दरबारी मित्र इस काम मे उनके सहायक हुए होंगे। सभवत इतनी प्राचीन वृत्ति को अकारण हर लेने की अदूरदर्शिता पर नवाब पर ऊपर से डाँट फटकार भी पडी होगी।

सवत् १६४० के आरभ होते होते गोसाईंजी काशी लौट आए। परतु बहुत समय तक काशी मे विश्राम न कर सके। उन्हें कार्य विशेष से नैमिषारण्य जाना पडा। नैमिषारण्य एक प्रसिद्ध तीर्थ है। प्राचीन काल मे यह तपस्वियों का आश्रम था। परतु इधर इस स्थान की बडी दुर्दशा हो रही थी। यहाँ के प्राय सभी देवस्थान लुप्त हो गए थे। बनखडी नामक एक साधु ब्राह्मण से यह बात न देखी गई। उसने देवस्थानों का उद्धार कर इस प्राचीन तीर्थ को अपने पूर्व गौरव पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न

आरभ किया। किवदती है कि किसी प्रेत ने, अपना परलोक सुधारने के उद्देश्य से, बनखडी को नरजन्म का अपना गाडा हुआ एक बहुत बडा खजाना, जिसके ऊपर वह मँडराया करता था, दे दिया था। किस प्रकार उस प्रेत ने बनखडी के साथ आकाश-मार्ग से चारो धाम की यात्रा करते हुए अत मे आश्चर्य चकित कुतूहल-पूर्ण जन समूह के बीच म काशी मे गोसाईंजी के आश्रम में उतरकर गोसाईजी के दर्शनों से मुक्ति प्राप्त की, इस कथानक का वेणीमाधवदास ने उल्लेख किया है। जो हो, बनखडी ने अपने मन म यह निश्चय किया था कि किसी बडे महात्मा के हाथ स नैमिषारण्य के देव-स्थानो की पुनर्प्रतिष्ठा करवानी चाहिए, जिससे उनका फिर न लोप हो। गोसाईंजी स बढकर ऐसा कौन और महात्मा मिल सकता था। इसलिए वडी अनुनय विनय कर वह उन्हे नैमिषारण्य ले गया।

मार्ग म गोसाईंजी पाँच दिन अयोध्या मे ठहरे। वहाँ उन्होंने मदिरो म अपनी गीतावली के पदो के गान का प्रचार किया। गायकों को उन्होंने गीतावली की एक प्रति भी दी। यहाँ स खनाही, सूकरखेत और पसका होते हुए वे लखनऊ पहुँचे। सियखार गाँव म उन्होंने एक कुएँ का जल पिया जिसकी उन्होंने बडी प्रशंसा की। इस कुएँ का नाम सोता कूप है। सभवत यह नामकरण गोसाईंजी ने ही किया हो। लखनऊ मे गोसाईंजी ने कुछ दिन विश्राम किया। यहाँ दामोदर भाट की कविता सुनकर गोसाईंजी न उसकी बडी सराहना की। इससे पहले लोग उसे नहीं जानते थे और वह बडा दरिद्र जीवन व्यतीत करता था। परतु अब उसकी बडी प्रतिष्ठा होने लगी। उसका उत्साह भी बढ़ गया और वह थोडे ही दिनों मे बहुत धनवान् हो गया।

वहाँ से थोडी दूर मडिहाऊँ गाँव है। यहाँ भीष्मसिंह कानूनगो रहते थे। वे बडे भक्त-जन थे। गोसाईंजी की इन्होंने बड़ी

आवभगत की और उन्हें अपना नया सिरा ग्रंथ सुनाया। फिर घनश्ट होते हुए गोसाईंजी मलिहाबाद पहुँचे। वहाँ ब्रजवल्लभ भाट के यहाँ ठहरे। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उन्होंने उसे 'रामचरितमानस' की एक प्रति दी। उसके वशजों के पास उस प्रति का अब तक होना कहा जाता है। हमें भी इस प्रति के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परतु इसकी जाँच का हमें अवसर नहीं दिया गया। जिनके अधिकार में वह प्रति है, वे नहीं चाहते कि उसकी कोई जाँच करे। परतु लोग कहते हैं कि उसमें क्षेपक है। इससे यह प्रति वह नहीं कही जा सकती जो गोसाईंजी ने ब्रजवल्लभ को दी थी।

वहाँ से प्रभाती में स्नान करके गोसाईंजी वाल्मीकिजी के आश्रम से होते रसूलाबाद के पास कोटरा गाँव में आए। वहाँ अनन्यमाधवजी से सत्संग हुआ। ये बड़े भक्त और कवि थे। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि इन्होंने गोसाईंजी को अपनी एक कविता सुनाई जिसमें माता को शिक्षा दी गई थी। कहते हैं, वह कविता यह थी—

'ऐसो सोच न करिए माता।
देवलोक सुर देह धरी जिन किन पाई कुसलाता॥
पराक्रमी को भीषम से बरन दानि से दाता।
जिनके चक्र चलत है अजहूँ घरी न भद्द निलाता॥
मृत्यु बाँधि रावण बस राखी, मरो गर्भ मरो ह्राता।
तेऊ उदि उदि भए काठ बस ज्यों तरुवर के पाता॥
सुनु जननी अब सावधान ह्वै परम पुरातन धाता।
माधवअनन्य दास राम कियो कहो काहि से नाता॥'

कहते हैं, गोसाईंजी ने यहा नीचे लिखा पद बनाया था—

'मैं हरि पतित पावन सुने।

मैं पतित, तुम पतित पावन, दोउ बानक बने ॥
ब्याध, गनिका, गज, अजामिल साखि निगमनि भने
और पतित अनेक तारे, जात सो कापै गने ?
जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो राखु लिए अपने ॥'

इसके उत्तर में अनन्यमाधव ने यह पद बनाकर गाया—

'तब तें कहाँ पतित नर रहयो।
जब तें गुरु उपदेस दीनो नाम नाको गहयो ॥
लोह जैसे परस पारस नाम कंचन लहयो।
कस न कसि कसि लेहु स्वामी अजन चाहन चहयो ॥
उभरि आयो विरह बानी मोल महँगे कहयो।
खीर नीर तें भयो न्यारो नरक तें निर्बहयो ॥
मूल मारन हाथ आयो त्यागि सरबर महयो।
अनन्यमाधव दास तुलसी भव जलधि निर्बहयो ॥'

वहाँ से वे निठूर (ब्रह्मावर्त) गए। यहाँ प्रातःकाल स्नान करते समय उनके पाँव कीचड़ में धँस गए। बड़ी कठिनाई से किसी स्त्री की सहायता से आप बाहर निकल पाए। वेणीमाधवदास का कथन है कि स्वयं गंगाजी ने इस स्त्री के रूप में उन्हें बाँह पकड़ कर पंक से बाहर निकाला था।

निठूर से वे सँडीले गए। वहाँ गौरीशंकर नाम का एक व्यक्ति रहता था। उसके घर को उन्होंने प्रणाम किया। लोगों के पूछने पर आपने बताया कि इस घर में श्रीकृष्ण के मित्र मनसूखा का अवतार होगा। यह मकान अब तक उसी दशा में है जिस दशा में गोसाईंजी ने उसे प्रणाम किया था। कुछ काल पीछे वहाँ एक बालक का जन्म हुआ। इसका नाम वंशीधर रखा गया। यह बड़ा कृष्णभक्त और कवि हुआ। इसने बड़ा विरक्ति

उत्पन्न करनेवाली कविता कही है। वशीधर की कुछ कविताएँ साधुओं के मुख से सुनी जाती हैं। वशीधर के वशज अब तक विद्यमान हैं। वे उसके चमत्कारों की कहानी कहते हैं। वशीधर जिस समय सात वर्ष का था उसी समय सडोले के निकट का एक ब्राह्मण जगन्नाथ यात्रा को गया, परतु पुरी पहुँचने पर उसे जगन्नाथजी की मूर्ति नहीं दिखाई पडी। वह बडे असमजस म पडा कि बात क्या है। रात को उसे जगन्नाथजी ने स्वप्न दिया कि हमारा मित्र मनसूखा सडोले में वशीधर रूप में प्रकट हुआ है। तुम बिना उसका दर्शन किए चले आए हो। पहले उसका प्रसाद पाकर आओ तब तुम्हें दर्शन मिलेंगे। उसने ऐसा ही किया और उसे दर्शन मिले।

'सुधि करत कमल नयनन की।
ये दिन बिसर गए मोहन को चाह इसीसे सयनन की॥'

किसी रासधारी के मुँह से यह रास सुनकर उसका कृष्ण-विरह उत्कट रूप म जागरित हो उठा जो उसके लिये असह्य हो गया और उसने अपना शरीर त्याग दिया। कहा जाता है कि खैराबाद के हलवाई सिद्ध प्रवीण ने उसे विमान पर चढ़कर वैकुठ जाते हुए देखा था। वेणीमाधवदास ने भी इसका उल्लेख किया है।

अत मे गोसाईंजी नैमिषारण्य पहुँचे। वहाँ तीन मास रहकर आपने शोध शोधकर लुप्त देवस्थानों की फिर से स्थापना की और इस प्रकार बनखडी का मनोरथ पूर्ण किया।

नैमिषारण्य से गोसाईंजी वृदावन गए। वहाँ वे रामघाट पर ठहरे। उनके दर्शनों के लिये लोगों का मेला सा लग गया। साधारण व्यक्ति से लेकर बडे बडे सत महात्मा तक उनसे मिलने आए। यहीं गोस्वामीजी भक्तमाल के कर्ता नाभाजी से भी मिले। किंवदती यह भी है कि पहले नाभाजी गोसाईंजी से मिलने के

लिये काशी गए थे। उस समय गोसाईंजी ध्यान में मग्न थे, नाभाजी से कुछ बातचीत न कर सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन के लिये चल दिए। गोसाईंजी ने जब यह सुना तब वे बहुत पछताए और इसी लिये उन्होंने यह लंबी यात्रा भी की।

गोसाईंजी जिस समय नाभाजी से मिलने गए उस समय उनके यहाँ साधुओं का भंडारा हो रहा था। उस समय की घटना का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है, अतएव वह यहाँ नहीं लिखा जाती। कहते हैं कि पहले नाभाजी ने बिगड़कर तुलसीदास विषयक छप्पय का अंतिम चरण यह रखा था—

'कलि कुटिल जीव तुलसी भए बाल्मीकि अवतार धरि।'

इस पाठ से वाल्मीकिजी के साथ तुलसीदास का पूर्ण साम्य हो जाता था, क्योंकि वाल्मीकिजी भी पहले कुटिल थे और तुलसीदासजी ने भी पहले नाभाजी से कुटिलता की थी। परंतु हम तो यह जान पड़ता है कि इसी साम्य को पूरा दिखलाने के लिये किसी को यह कथा सूझी है। इसी से यह अमान्य है।

नाभाजी ने घुमा फिराकर गोसाईंजी को वृंदावन के प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों के दर्शन कराए। यहाँ उनके गुरुभाई नंददास कान्यकुब्ज ब्राह्मण उनसे मिलने आए। स्वामी हितहरिवंशजी के पुत्र गोपीनाथजी भी उनसे मिले। गोपीनाथ केवल वृंदावन का माहात्म्य मानते थे, क्योंकि वह कृष्ण का जन्मभूमि थी। उन्हें गोसाईंजी ने अयोध्या का माहात्म्य बड़ा अच्छी तरह समझाया और विश्वास करा दिया कि जिसे कहीं गति नहीं मिलती उसे भी रघुनाथजी वहाँ अपना आश्रय देकर तार लेते हैं।

यहाँ से गोसाईंजी ने चित्रकूट के लिये प्रस्थान किया। कुछ दिन उन्होंने वहाँ विश्राम किया। मलूकाम नामक एक ब्राह्मण वहाँ उनका शिष्य होने की इच्छा से आया। गोसाईंजी को उसके

हृदय की शुद्धता पर संदेह हुआ। इसलिये उन्होंने उसे शिष्य बनाना स्वीकार नहीं किया। पर वह हठ करके उन्हीं के पास ठहर गया। एक दिन रात में कोई रानी, जिसका नाम वेणीमाधवदास ने कदथलता लिखा है, गोसाईंजी के दर्शनों को आई। सत्यकाम ने रानी का मुँह अच्छी तरह देखने के उद्देश्य से दीए की बत्ती बढा दी। उसकी इस कुचेष्टा से गोसाईंजी रुष्ट हुए और उन्होंने उसको बहुत डाँटा-फटकारा तथा अत्यंत उपकारी उपदेश भी दिया। सत्यकाम बहुत लज्जित हुआ। गोसाईंजी के उपदेश को सच्चे मन से सुनकर उसने अपने हृदय के विकार को दूर किया।

चित्रकूट से आप दिल्ली और अयोध्या होते हुए काशी के लिये प्रस्थित हुए। मार्ग में महावन पडा था। वहाँ आप अहीरों के टोले में बसे। वहाँ भगीरथ नाम के एक ग्वाले से आपका बडा प्रेम हो गया। उसे उन्होंने अपना शिष्य बना लिया। आगे चलकर वह बडा सिद्ध संत हुआ।

अयोध्या मे उन्हें भक्त हरिदास के सत्संग का सौभाग्य मिला। हरिदास को एक गीत बडा प्रिय था। भगवान् की प्रार्थना मे वे इसी गीत को गाकर मस्त हो जाते थे। परंतु उसमें के शब्दों को वे अशुद्ध गाते थे। तुलसीदासजी ने अशुद्धि को सुधारकर उनसे आग्रह किया कि वे शुद्ध गाया करें। परंतु अभ्यास न होने के कारण उनसे शुद्ध रूप में गाते नहीं बनता था, जिससे उनके भजन में अडचन पडने लगी। इस पर गोसाईंजी को रघुनाथजी ने स्वप्न मे दर्शन देकर कहा कि मैं शुद्धाशुद्ध की परवा नहीं करता, केवल भाव को देखता हूँ। भक्त के भजन मे भंग न डालो, जैसा गाता है गाने दो। फिर हरिदासजी अपनी ही रुचि के अनुसार गाकर भजन में मग्न रहने लगे। अयोध्या ही में गोसाईंजी को महात्मा मुरारिदेव और उनके शिष्य मलूकदास भी मिले। वहाँ से आप

अपने आश्रम को लौट आए। अब गोसाईंजी की अवस्था भी बहुत हो गई थी। शरीर वृद्धावस्था से जर्जर हो गया था, इसलिये उन्होंने आगे कोई यात्रा न करने का विचार करके काशी में अखंड वास करने का निश्चय किया।

यद्यपि गोसाईंजी अयोध्या, चित्रकूट, सूकरखेत आदि स्थानों में समय समय पर रहे थे, पर उनका अधिक जीवन काशी में ही बीता। बाल्यकाल में १५ वर्ष तक उन्होंने यहीं शेषसनातनजी से शिक्षा पाई। वृद्धावस्था में भी उन्होंने यहीं अखंड वास किया और यहीं उनका गोलोकवास हुआ। संवत् १६३३ के आस-पास से आपने काशी ही में अपना स्थायी आश्रम बना लिया था। इस संवत् के पीछे उन्होंने बड़ी बड़ी यात्राएँ भी कीं, पर घूम फिरकर वे फिर काशी ही लौट आते थे। वेणीमाधवदास के लेख से बाल्यकाल में उनका पंचगंगा घाट पर रहना पाया जाता है।

विरक्तावस्था में जब गोसाईंजी ने काशी में स्थायी रूप से रहने का विचार किया तब सबसे पहले वे हनुमान फाटक पर रहे थे। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर में आए। यहाँ श्री मुकुंदरायजी के उद्यान के पश्चिम दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, जो तुलसीदासजी की बैठक कहलाती है। यह अनुमान होता है कि यहाँ बैठकर गोसाईंजी ने सारी विनयपत्रिका नहीं तो उसका कुछ अंश तो अवश्य लिखा था, क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधवजी के निकट है और पंचगंगा तथा बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है, वह पुराने बिंदुमाधवजी में, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है। तुलसीदासजी की यह बैठक सदा बंद रहती है। झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं, केवल श्रावण शुक्ला ७ को खुलती है जब लोग जाकर पूजा कर सकते हैं।

प्रह्लादघाट और सकटमोचन पर भी गोसाईंजी रहे थे। प्रह्लाद-घाट पर उनके मित्र गगाराम ज्योतिषी का घर था। उन्हीं के यहाँ ये रहते थे। इन्हीं गगाराम की सहायता से गोसाईंजी ने नगवा के पास अस्सी नाले पर हनुमान की एक मूर्ति स्थापित की थी, जो सकट-मोचन के नाम से प्रसिद्ध हुई। मदिर के बन जाने पर गोसाईंजी एकात सेवन के उद्देश्य से वहीं आकर रहने लगे। इन्हीं गगाराम के वशजो के यहाँ गोसाईंजी का एक प्राचीन चित्र है जिसकी नकल इस पुस्तक में दी गई है।

काशी मे तुलसीदासजी का सबसे प्रसिद्ध स्थान अस्सीघाट के निकट है जो तुलसी घाट के नाम से विख्यात हो गया है। यहाँ पर भी गोसाईंजी ने एक मदिर बनवाकर हनुमानजी की मूर्ति स्थापित की थी। मदिर के बाहर बीसायत्र लिखा है जो पढा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है, जिसमे गोसाईंजी विशेष रहते थे। अत में निरतर बहुत वर्षों तक वे यहाँ रहे और यहीं उनका चोला छूटा।

उन्होने अपने निवास-स्थान के विषय मे अपनी सतसई मे नीचे लिखा दोहा दिया है—

'रवि चचल अरु प्रह्लाद्रव बीच सुवास विचारि।
तुलसिदास आसन करे अजलिसुता उर धारि॥'

अस्सी पर गोसाईंजी ने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरभ की थी। यद्यपि जनश्रुति है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईंजी के पहले से होती था, परतु वर्तमान शैली की रामलीला गोसाईंजी के समय से ही आरभ हुई। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे और लीलाओ से विलक्षणता यह है कि और लीलाओ में खर-दूषण की सेना के राक्षस विमानो

पर चढाकर निकाले जाते हैं, परन्तु यहाँ पर राक्षस लोग राम चरित मानस के अनुसार भैसे, घोडे आदि पर निकलते हैं। इस लीला की लका अब तक लका के नाम से प्रसिद्ध है। अस्सी घाट पर कार्तिक कृष्णा ४ को कालिय-दमन लीला भी बहुत सुदर रीति से होती है जिसे गोसाईजी ने ही आरभ किया था। मेघा भगत की लीला भी अब तक होता है। काशी में इस लीला का भरत मिलाप बहुत प्रसिद्ध है। यह आश्विन शुक्ला एकादशी को सध्या के ठीक ४ बजे होती है। काशी मे जितनी रामलीलाएँ होती है उन सब मे भरत मिलाप को यह लीला बडी प्रसिद्ध है। उस दिन सारा शहर उसे देखने जाता है। महाराज काशिराज भी उस दिन प्राय प्रति-वर्ष आते हैं और विमान के पीछे पीछे उनका हाथी चलता है। कहते हैं कि एक बेर महाराज को यहाँ आने मे कुछ विलब हो गया, पर लीला ठीक समय पर हुई। इससे महाराज असतुष्ट हो गए और रामनगर मे एक नई लीला का उन्होंने आयोजन किया जो अब तक बडे राजसी ठाट से होती है।

---

(८) साहित्यिक जीवन

पहुँचे हुए भक्त होने के साथ साथ गोसाईंजी कवि भी थे। यद्यपि अपने समय में, आरंभ में, अपनी अनन्य भक्ति के कारण उनकी ख्याति हुई थी, तथापि अपनी रचनाओं के कारण ही उनका अधिक नाम है। परंतु वे पहले भक्त थे और तब कवि। वे कवि पद के लिये कभी उतावले नहीं दिखाई देते। यद्यपि राम-भक्ति के संचय के लिये वे सदैव उतावले दिखाई देते हैं, भूत प्रेत से लेकर स्वयं राम तक से यही माँगते फिरते हैं कि हमें राम की भक्ति दीजिए, परंतु कवित्व शक्ति की प्राप्ति के लिये उन्होंने किसी देवता का इष्ट नहीं साधा। जोड़ तोड़ लगाकर कुछ भली सी उक्ति कह देनेवाले कवियों की भाँति उनमें 'कुछ लिखना चाहिए,' यह व्यग्रता नहीं उत्पन्न हुई। उनके हृदय ने जब तक उन्हें बाध्य नहीं कर दिया तब तक उन्होंने लिखा नहीं। यही कारण है कि वे भक्त तो युवावस्था में ही हो गए थे, परंतु रचयिता वृद्धावस्था में हुए। वेणीमाधव-दास के अनुसार १६१६ संवत् के पश्चात् उन्होंने कुछ लिखना आरंभ किया।

इस समय तुलसीदासजी चित्रकूट के पास कामद गिरि पर निवास करते थे। सूरदासजी वहाँ उनके दर्शनों के लिये आए थे। उन्होंने गोसाईंजी को अपना सूरसागर दिखाया जो उनको बहुत पसंद आया। उसमें के कुछ पद उन्होंने अपने एक गवैए शिष्य के लिये चुन दिए। उसी के आग्रह पर तुलसीदासजी राम तथा कृष्ण के चरित्र के संबंध के पद रचने लगे। उनका यह गायन-कला-प्रवीण शिष्य उन्हें कंठ कर लेता और उन्हें गाकर सुनाता।

कठ करने के लिये प्रति दिन वह नए नए पद माँगता और बिना लिए मानता नहीं था, रूठ जाता था। इस प्रकार नित्य प्रति नवीन पदों की रचना होने लगी। इनमें से थोडे से पद तो कृष्ण सबधी थे और शेष राम सबधी। गोसाईंजी राम के अनन्य भक्त थे, इससे यह स्वाभाविक ही था कि रामचरित्र सबधी पद ही अधिक बनते। रामचद्र के जीवन सबधी जितने भावुक स्थल थे उन पर तुलसीदासजी ने पद बनाए। इस प्रकार प्राय समस्त रामकथा पदो मे हो गई। किसी किसी प्रसग का तो तुलसीदासजी ने एक से अधिक पदो मे कहा है। सवत् १६२८ म इन पदो का कृष्ण-गीतावली और राम गीतावली के नाम स अलग अलग सग्रह किया गया।

कृष्ण गीतावली म सब मिलाकर ६१ पद हैं, जिनम से कुछ सूर सागर के हैं। इसम पूरा कृष्णलीला नहा आ पाई है, इतने कम पदों मे आ भी नहीं सकती थी। फिर भी यथाक्रम बालचरित्र, गोपी-उलाहना, ऊखल से बाँधना, इद्रकोप, गोवर्द्धनधारण, छाकलीला, शोभावर्णन, गोपिका प्रीति, मथुरागमन, गोपिका विलाप, उद्धव-गोपी सवाद, भ्रमरगीत और द्रौपदी-चीरवृद्धि, ये विषय आ गए हैं।

राम गीतावली बडा मधुर गीतकाव्य है। इसम तुलसीदासजी ने रामचरित्र के भावुक स्थलो का विशेष वर्णन किया है। पदो का सग्रह कथा क्रम स हुआ है और रामचद्र के जीवन का प्राय सभी घटनाएँ आ गई हैं। परतु कथा प्रबध के प्रवाह का निर्वाह नहा किया गया है। कोई घटना तो एक स अधिक बार वर्णित है और कहीं पर कोई कथाश छूट गया है।

सूरदास चाहे तुलसीदास से मिलने आए हों या नहा, परतु इसम सदेह नहीं कि गोसाईंजी का रामगीतावली और कृष्णगीतावली को लिखने की उत्तेजना सूरसागर ही को देखकर हुई होगा। य दोना ग्रथ सूरसागर की शैली पर लिखे गए हैं और दोनों म कइ

पद अक्षरशः सूरदास के हैं। उदाहरण के लिये सूरसागर के तीन पद नीचे दिए जाते हैं, जो रामगीतावली में भी मिलते हैं—

(१)

आगन फिरत घुटुरुवन धाए।
नील जलद तनु सुभग स्याम सुख निरखि जननि दोउ निकट बुलाए॥
बंधुक सुमन अरुन पद पंकज अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आए।
नूपुर कलरव मनो सुत हंसन रच नीड दै बाँह बसाए॥
कटि किंकिनि, बर हार ग्रीव दर रुचिर बाहु भूषन पहिराए।
उर श्रीवत्स मनोहर केहरि नखन मध्य मनिगन बहु लाए॥
सुभग चिबुक द्विज अधर नासिका श्रवण कपोल माहि सुठि भाए।
भ्रू सुंदर करुना रस पूरन, लोचन मनहुँ जुगल जलजाए॥
भाल बिसाल ललित लटकन बर बाल दसा के चिकुर सुहाए।
मानों गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए॥
उपमा एक अभूत भई जब जननी पट पीत ओढ़ाए।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मानो तड़ित छपाए॥
अंग अंग प्रति मार निकर मिलि छवि समूह लै लै जनु छाए।
सूरदास सो क्यों करि बरनै जो छवि निगम नेति करि गाए॥

यह पद गीतावली में भी ज्यों का त्यों है भेद केवल अंतिम चरण में है जो गीतावली में इस प्रकार है—

तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौ जो बिधि होहि बनाए।

(२)

हरिजू की बाल छबि कहौं बरनि।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि॥
भुज भुजंग सरोज नयननि बदन बिधु जित लरनि।
रहे बिवरन, सलिल नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥

मञ्जु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूषन भरनि।
मनहुँ सुभग सिँगार सिसु तरु फर्यो अद्भुत फरनि॥
चलत पद प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवन करनि।
जलज संपुट सुभग छबि भरि लेति उर जनु धरनि॥
पुन्य फल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद घरनि।
सूर प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि॥

यह पद भी गीतावली में ज्यों का त्यों है। भेद इतना ही है कि 'हरिज़ की', 'नंद घरनि' और 'सूर' के स्थान पर क्रमशः 'रघुबर', 'दसरथ घरनि' और 'तुलसी' शब्द हैं।

(३)

आँगनि खेलै नंद के नंद। जदुकुल कुमुद सुखद चारु चंद॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसु भूषन सबको मन मोहैं॥
तन दुति मोर चंद जिमि झलकै। उमगि उमगि अँग अँग छबि छलकै॥
कटि किंकिनि पग नूपुर बाजै। पंकज पानि पहुँचियाँ राजै॥
कठुला कंठ बघनहा नीके। नयन सरोज मयन सरसी के॥
लटकन ललित ललाट लटूरी। दमकति द्वै द्वै दँतियाँ रूरी॥
मुनि-मन हरत मंजु मसि बिंदा। ललित बदन बलि बाल गोबिंदा॥
कुलही चित्र विचित्र झँगूली। निरखि जसोदा रोहिनी फूली॥
गहि मनि खंभ डिंभ डगि डोलैं। कलबल बचन तोतरे बोलैं॥
निरखत छबि झाँकत प्रतिबिंबै। देत परम सुख पितु अरु अंबै॥
ब्रज जन देखत हिय हुलसाने। सूर स्याम महिमा को जाने॥

यह पद भी रामगीतावली में मिलता है। केवल प्रसंग के अनुकूल 'नंद के नंद' के स्थान पर 'अनदकंद', 'निरखि जसोदा रोहिनी फूली' के स्थान पर 'निरखत मातु मुदित मन फूली' है और अंतिम चरण यों दिया है—'सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है। गावत प्रेम पुलकि तुलसी है।'

संभवत तुलसीदासजी की रचनाओं में मिलनेवाले सूरदास के इन पदों को तुलसीदासजी ने गाने के लिये पसद किया होगा और तुलसीदासजी को प्रिय होने के कारण आगे चलकर उनके शिष्यों ने उचित परिवर्तन के साथ उन्हें उनकी रचनाओं में मिला दिया होगा।

चित्रकूट पर्वत पर लिखे जाने के कारण रामगीतावली में उस पर्वत का जितना अधिक और अच्छा वर्णन हुआ है उतना गोसाईंजी ने और कहीं नहीं किया है।

वेणीमाधवदास ने लिखा है कि रामगीतावली के समाप्त हो जाने पर गोसाईंजी ने अयोध्या के लिये प्रस्थान किया। प्रयाग पहुँचकर उन्होंने गगा के किनारे किनारे चलना आरभ किया और वारिपुरा और दिगपुरा के बीच सीतामढी में सीतावट के नीचे तीन दिन वास किया तथा कुछ सुदर कवित्त बनाए। यह वाल्मीकिजी का आश्रम था। कहा जाता है कि रामचद्र के द्वारा त्याग दिए जाने पर सीताजी इसी स्थान पर रहा करती थीं। इसी से इसका नाम सीतामढी पडा। कवितावली में नीचे लिखे तीन कवित्त मिलते हैं जो इस समय के बनाए हुए कहे जा सकते हैं—

'जहाँ बाल्मीकि भए ब्याध ते मुनींद्र साधु
मरा मरा जपे सुनि सिष रिषि सात की।
सीय को निवास लव कुश को जनम थल
तुलसी छुवत छाँह ताप गरै गात की॥
बिटप महीप सुर-सरित समीप सोहै
सीतावट पेखत पुनीत होत पातकी।
वारिपुर दिगपुर बीच बिलसति भूमि
अंकित जो जानकी चरन जलजात की॥ १॥
मरकत बरन परन, फल मानिक से,
लसै जटाजूट जनु रूख बेष हरु है।

सुखमा को ढेर कैधौं सुकृती सुमेर कैधौं,
संपदा सकल मुद मंगल को घर है ॥
देत अभिमत जो समेत प्रीति सेइए,
प्रतीति मानि तुलसी बिचारि काको थर है ।
सुरसरि निकट सोहावनि अवनि सोहै,
राम रमनि को बटु कलि काम तरु है ॥ २ ॥
देवधुनी पास मुनि बास श्री निवास जहाँ
प्राकृतहूँ बट बूट बसत पुरारि हैं ।
जोग जप जाग को बिराग को पुनीत पीठ
रागिन पै सीठ डीठ बाहरी निहारिहैं ॥
'आयसु,' 'आदेस', 'बाबा', 'भलो भलो', 'भाव सिद्ध'
तुलसी बिचारि जोगी कहत पुकारिहैं ।
सिय भगतन को तौ कामतरु तें अधिक,
सियबट सेए करतल फल चारि हैं ॥ ३ ॥

परंतु इनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि सारी कवितावली की यहाँ रचना हुई, क्योंकि तीन दिन में इतना बड़ा काव्य लिखा जाना असंभव है और हनुमान-बाहुक को छोड़कर भी कई पद ऐसे हैं जो स्पष्ट ही अन्यत्र लिखे गए होंगे। जैसे—

जहाँ बन पावनो सुहावनो विहग मृग
देखि अति लागत आनँद खेत खूँट सो ।
सीता राम लखन निवास बास मुनिन को
सिद्ध साधु साधक सबै बिबेक बूट सो ॥
झरना झरत झारि सीतल पुनीत बारि
मंदाकिनि मंजुल महेस जटाजूट सो ।
तुलसी जौ राम सों सनेह चाहिए तौ
सेइए सनेह सों बिचित्र चित्रकूट सो ॥'

यह और इसके आगे का कवित्त चित्रकूट मे लिखा जान पडता है। और "देवसरि सेवौ बामदेव गाउँ रावरे ही नाम राम के ही माँगि उदर भरत हा" वाला तथा अन्य कई कवित्त निश्चय ही काशी म बने हुए हैं। समय का तो इनमे और सीतावट वाले कवित्तों मे बडा अतर है। इनमे काशी मे महामारी पडने का, गोसाईंजी की रुग्णावस्था का, मीन की सनीचरी का और रुद्रबीसी का वर्णन है।

'मारिए तो अनायास कासीवास खास फल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं।'
'बीसी बिश्वनाथ की विषाद बडी बारानसी
बूझिए न ऐसी गति शकर सहर की।'
'एक तो कराल काल सूल मूल तामें
कोढ़ म की खाज सनीचरी है मीन की।'

गणना से रुद्रबीसी १६६५ से १६८५ तक और मीन की सनीचरी १६६९ से १६७१ तक थी। इसी बीच ये कवित्त भी लिखे गए होगे।

इससे पता चलता है कि कवितावली भी समय समय पर रचे गए कवित्तो का सग्रह है। हो सकता है कि पहले के छ काड एक साथ ही रचे गए हों। परतु उत्तरकांड तो अवश्य ही भिन्न भिन्न अवसरो पर रचे गए कवित्तों का सग्रह है। यदि जिस क्रम से उत्तरकांड के अत मे कवित्तों का सग्रह है उससे कवितावली के रचना-काल का कुछ पता चल सकता है तो वह यही कि कवितावली का कथा-भाग और सीतावट विषयक कवित्त १६२८ और १६३१ के बीच में बनाए गए है और शेषांश १६६९ के पीछे।

कुछ लोगों का अनुमान है कि गोसाईंजी के 'भृ ग' नामक एक शिष्य ने उनके फुटकल रामचरित्र सबधी कवित्त सवैयों का कवित्त रामायण के नाम से सग्रह किया था। शिवसिह सेंगर ने अपने 'सरोज' में 'भृ ग' का उल्लेख किया है और उसे १७०८ सवत् मे

विद्यमान बताते हुए उसकी कविता के उदाहरण रूप में निम्नलिखित दो सवैए दिए हैं जो कवितावली में भी पाए जाते हैं—

जब नयनन प्रीति ठइ ठग स्याम सो स्यानी सखी हठि हैा बरजी ।
नहि जान्यो वियोग सो राग है आगे झुकी तब हैा, तहि सो तरजी ॥
अब देह भई पट नेह के घाले सो, ब्योत करै विरहा दरजी ।
व्रजराज कुमार विना सुनु, भृ ग ! अनंग भयो जिय को गरजी ॥ १३३ ॥

(उत्तर कांड)

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिए ।
नवनील कलेवर पीत मँगा झलकैं, पुलकैं नृप गोद लिए ॥
अरविद सो आनन, रूप-मरद, अनंदित लोचन भृग पिए ।
मन मो न बस्यौ अस बालक जैा तुलसी जग म फल कौन जिए ॥ १२ ॥

(बाल काड)

सवैयों से तो इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि 'भृ ग' कवि का नाम ही है, क्योंकि उसका पद्यांशों म सार्थक स्थान है। पहला भ्रमरगीत है, इसलिये भृ ग (उद्धव) को सबोधन किया है और दूसरे मे वह लोचन का उपमान है। फिर दूसरे सवैए मे असदिग्ध रूप से कवि का नाम तुलसी दिया हुआ है। शिवसिह ने किस आधार पर इन्हें भृ ग रचित बताया है, नहीं कह सकते। परतु कवितावली मे ब्यौरेवार दशावतार का वर्णन, और यहाँ तक कि दो सवैयों म भ्रमरगीत का भी पाया जाना, कुछ तो अवश्य सकेत करता है कि रिक्त स्थान की पूर्ति किसी अन्य ने की है। गोसाईंजी ने यह समझकर थोडे ही अपने कवित्तों का लिखा होगा कि ये एक ही स्थान पर रखे जायँगे। अतएव यदि शिवसिह का कथन साधार माना जाय तो उनके शिष्य भृ ग द्वारा उसके सगृहीत होने की पुष्टि होती है। हो सकता है कि उनके अन्य सग्रह-ग्रथों का सग्रह भी 'भृ ग' ने ही किया हो। और उसी के किए सग्रहों में पीछे से पडित

रामगुलाम शर्मा आदि तुलसी-प्रेमियो ने फेर-फार करके उनको वह रूप दिया हो जिनमें उन्हें हम आज पाते हैं।

सीतामढी से चलकर गोसाईंजी अयोध्यापुरी पहुँचे। वहाँ उन्होने १६३१ मे, जब कि लग्न, ग्रह और राशि का वही योग था जो रामचन्द्रजी के जन्म के समय पडा था, रामचरितमानस की रचना आरभ की। गोसाईंजी ने स्वय भी लिखा है—

'सवत् सोरह सै इकतीसा।
करहुँ कथा हरि पद धरि सीसा॥
नौमी भौम वार मधु मासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम जन्म स्रुति गावहि।'

× × ×

यह तो तुलसीदासजी ने स्वय लिख दिया है कि अयोध्या मे इस प्रसिद्ध ग्रथ की रचना आरभ हुई थी, परतु अत मे यह नहीं लिखा है कि कब और कहाँ यह समाप्त हुआ था। यह अनुमान किया जाता है कि गोसाईंजी ने अरण्यकांड तक तो उसे अयोध्या में लिखा और शेष अश काशी मे। इस अनुमान का आधार गोसाईंजी का नीचे लिखा सोरठा है जिसे उन्होने किष्किधाकाड के मगलाचरण के रूप में दिया है—

'मुक्ति जन्म महि जानि ग्यान-खानि अघ हानि कर।
जहँ बस संभु भवानि सो कासी सेइय कस न॥'

यद्यपि वेणीमाधवदास ने मूल-चरित मे लिखा है कि सपूर्ण ग्रथ की रचना अयोध्या म ही हुई और उन्होंने उसके समाप्त होने की तिथि तक दे दी है, फिर भी पूर्वोल्लिखित अनुमान ही ठीक जान पडता है, क्योंकि इस अनुमान के अतिरिक्त इस सोरठे का किष्किधा कांड के आरभ में दिए जाने का और कोई कारण नहा जान पड़ता।

'सो कासी सेइअ कस न' इस बात की सूचना देता है कि उस समय गोसाईंजी काशी-सेवन कर रहे थे।

'मूल चरित' के अनुसार २ वर्ष ७ मास और २६ दिन मे, सवत् १६३२ के मार्गशीर्ष मास मगलवार को मध्याह्न मे, यह ग्रथ समाप्त हुआ। उस दिन वही तिथि थी जो रामचद्र के विवाह क समय थी। राम विवाह की तिथि मार्गशीर्ष मास के शुक्ल पक्ष की पचमी मानी जाती है। इस दिन अँगरेजी तारीख नवबर २७ सन् १५७६ पडती है।

कहते हैं कि रामचरितमानस को नरों मे से सबसे पहले सुनने का सौभाग्य जनकपुर के रूपारुण स्वामी को प्राप्त हुआ था। रूपारुण स्वामी जनक के समान ही परम विवेकी और ज्ञानवान् थे। वे उस समय अयोध्या आए हुए थे। गोसाईंजी ने स्वय उन्हें रामचरित-मानस सुनाया था। फिर सडीले के स्वामी नदलाल के शिष्य सुदासलाल ने गोसाईंजी की मूल प्रति से इसका प्रतिलिपि की और सडीले जाकर अपने गुरु को उसे सुनाया। तदनतर इन्हीं सुदास से तीन वर्ष तक यमुना के तट पर रसखान उसे सुनते रहे।

इस आधिकारिक ग्रथ को भाषा म रचकर गोसाईंजी ने अपने लिये एक तूफान खडा कर दिया। ज्ञान को अपना एकाधिकार माननेवाले कलि के गुमाश्ते अहम्मन्य पडितों में खलबली मच गई। उन्होंने सोचा कि सब रहस्यों को खोलनेवाले इस ग्रथ को पढकर अब गँवार भी ज्ञानी हो जा सकेंगे। हमे कोई भी न पूछेगा। इस लिये उन्होने गोसाईंजी का विरोध करना आरभ किया। ग्रथ को चुराकर नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। गोसाईंजी के प्राण लेने के प्रयत्न हुए, परतु किसी बात मे भी उनके विरोधियों को सफलता न हुई। उनके विरोध से उनकी और उनकी रचना की कीर्ति और भी फैलने लगी। गोसाईंजी की निदा करके विरोधी दल ने इस

ग्रंथ के प्रचार में बाधा डालने में प्रसिद्ध सन्यासी मधुसूदन सरस्वती का सहकार चाहा। मधुसूदन सरस्वती बडे निष्पक्ष और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उन्होंने कहा कि जब तक मैं स्वय रामचरितमानस को न देख लूँ तब तक इस सबध में कोई मत नहीं दे सकता हूँ। उन्होंने जब उस ग्रथ-रत्न को मँगाकर पढा तब उनके आनद का ठिकाना न रहा। विरोधी दल इस आशा से उनके पास आया था कि वे रामचरितमानस को धर्म-ग्रथों की कोटि में न रखे जाने की व्यवस्था देंगे। परतु उन्होंने उन लोगों को यह कहकर निराश कर दिया कि इसमे सभी धर्मशास्त्रों का निचोड आ गया है। साथ ही तुलसीदासजी की प्रशंसा मे यह श्लोक भी उन्होंने लिख भेजा—

'आनदकानने ह्यस्मिन् तुलसी जगमस्तर ।
कवितामजरी भाति रामभ्रमरभूषिता ॥'

काशीनरेश ईश्वरीप्रसाद नारायणसिह ने इसका अनुवाद यों किया है—

'तुलसी जगम तरु लसै, आनँद कानन खेत ।
कविता जाकी मजरी, राम भ्रमर रस लेत ॥'

जब गुमाश्तों के किए कुछ न हुआ तब उनके अन्नदाता स्वय कलि महाराज गोसाईंजी को त्रास दिखलाने आए। राम चरित के सब के लिये सुलभ हो जाने पर कलि का प्रभाव घटने लगा, क्योंकि लोग रामचरितमानस को पढकर पुण्यवान् होने लगे। कहते हैं, एक दिन रात्रि को वह कृपाण लेकर आया और गोसाईंजी को डराने लगा। उसने कहा कि यदि तुम अपना भला चाहते हो तो रामचरितमानस की पोथी को गगाजी मे डुबो दो, नहीं तो तुम्हारी खैर नहीं है। यह चेतावनी देकर जब कलि चला गया तब गोसाईंजी ने हनुमानजी का स्मरण किया और उनसे फर्याद की। हनुमानजी ने कहा कि इस समय राज्य ही कलि का है, इसलिये बिना प्रभु की आज्ञा के हम उससे कुछ भी नहीं कह सकते।

अच्छा हो कि तुम एक विनयावली लिखो। उसे हम रामजी के पास पहुँचा देंगे और कलि को दंड देने की स्वीकृति माँग लेंगे।

कहते हैं कि हनुमानजी के इसी आदेश के अनुसार और इसी उद्देश्य से गोसाईंजी ने विनयपत्रिका की रचना की। इस किंवदंती के चल पड़ने के लिये विनय पत्रिका में ही पर्याप्त सामग्री है। कथानक के अतिरंजित रूप को छोड़कर यदि हम वास्तविकता पर आवें तो हमें इसमें कोई संदेह न रहेगा कि कलिकाल की कुचालों से तंग आकर ही अर्जी के रूप में विनय पत्रिका की रचना की गई थी। सारी विनय पत्रिका इसका प्रमाण है।

'ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले।
साहब कहूँ न राम से, तो से न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेंढ लीले।
जानत हौं कलि तेरोऊ मन गुनगन कीले॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले।
सो बल गयो, किधौं भए अब गर्व-गहीले॥
सेवक को परदा फटै, तू समरथ सीले।
अधिक आपु तें आपनो सुनि मान सहीले॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिनको भलो जे राम रँगीले॥'

इस पद से यह बात स्पष्ट है कि कलिकाल की ही कुचालों से त्रस्त होकर तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका लिखी थी।

विनय-पत्रिका बिल्कुल अर्जी के ढंग पर लिखा हुआ ग्रंथ है। कोई सेवक सीधे महाप्रभु के पास अपनी फर्याद नहीं भेज सकता। ऐसा करने से मर्यादा भंग होती है। अपने से ऊपर के सभी पदाधिकारियों की दृष्टि से होकर उसे जाना पड़ता है। अर्जी 'थ्रू प्रॉपर चैनेल' जानी चाहिए। इसी लिये गोसाईंजी वाच

के सभी देवताओं की प्रार्थना करते हुए चलते हैं। गणेश, सूर्य, शिव, पार्वती, भैरव, गंगा, यमुना, काशी के क्षेत्रपाल, चित्रकूट, हनुमान, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सीता सभी देवताओं और देवस्थानों की वंदना करके तब वे रामचंद्रजी की प्रार्थना करते हैं। और देवताओं से यही प्रार्थना की गई है कि रामचंद्रजी के चरणों में मेरी भक्ति हो। काशी के तो प्रायः सभी देवताओं के और देवस्थानों के नाम इसमें आ गए हैं। मणिकर्णिका, पंचगंगा, बिंदुमाधव, विश्वनाथ, दंडपाणि भैरव, त्रिलोचन, कर्णघंटा, पंचक्रोश, अन्नपूर्णा, केशवदेव आदि का इसमें बहुत उल्लेख मिलता है। यह इसलिये कि विशेषकर काशी में ही इस ग्रंथ का प्रणयन हुआ है। कलि-काल के प्रभाव को दूर करने के लिये अन्य देवताओं और अन्य स्थानों का, जिनका गोसाईंजी ने सेवन किया था, स्मरण करना स्वाभाविक ही है। या यह भी हो सकता है कि उन उन देवस्थानों में पहले ही तुलसीदासजी ने तत्संबंधी पदों को बना लिया हो और अब उन्हें विनय-पत्रिका में रखने के योग्य समझकर उनका उसमें समावेश कर लिया हो। संभवतः आगे चलकर भी जो विनय के पद तुलसीदासजी ने बनाए वे इसमें सम्मिलित कर लिए गए। उदाहरण के लिये—

'कटु कहिए गाढे परे सुनु समुझि सुसाईं।
करहि अनभले को भलो आपनी भलाई॥
समरथ शुभ जो पावइ, बीर, पीर, पराई।
ताहि तकैं सब ज्यों नदी बारिधि न बुलाई॥
अपने अपने को भलो चहैं लोग लुगाई।
भावै जो जहि तहि भजै सुभ असुभ सगाई॥
बाँह बोल दै थापिए जो निज बरिआई।
बिन सेवा सो पालिए सेवक की नाई॥

चुक चपलता मेरे गे, तू बडो बडी बढाई ।
होत आदरे दीठ हौं अति नीच निचाई ॥
बंदि छोर विरदावली निगमागम गाई ।
नीको तुलसीदास को तरि ही निकाइ ॥

यह पद बहुत बाद का कहा जाता है, जब गोसाईंजी को बादशाह ने दिल्ली बुलाकर करामात न दिखाने पर बंदी किया था। उस समय हनुमानजी ने ही बंदरो से उत्पात कराके उनको बंदी से मुक्त कराया था। परंतु मूल चरित के अनुसार गोसाईजी ने संवत् १६२० के पीछे अयोध्या जाते हुए मार्ग मे चुनारगढ के किसी राजा को भी कैद से छुडवाया था। संभवत इस पद मे **वंदि छोर** कहने से उस घटना की ही ओर संकेत हो।

जैसे कि अन्यत्र दिखाया गया है, कवितावली के ही समान, इस ग्रंथ मे भी कुछ ऐसे पद हैं जिनसे उनके अपने जीवन पर कुछ प्रकाश पडता है।

नीचे के सब कर्मचारियों से होते हुए अर्जी महाराज के सामने पेश होने को जाती है, वह भी सधे हुए लोगों द्वारा जो अवसर अनवसर का ठीक ठीक ज्ञान रखते हैं। अंतिम पद मे इस दृश्य की गोसाईजी ने बडी अच्छी कल्पना का है। श्रीरामचद्रजी को प्रसन्न देखकर हनुमान और भरत लक्ष्मण के लिये इशारा करते हैं। वे बडे अदब से इस कैफियत के साथ अर्जी को पेश करते हैं कि कलिकाल में भी इस सेवक (तुलसीदास) ने आपके नाम से प्रीति और विश्वास का निर्वाह किया है। और सभासद भी इस बात का अनुमोदन करते हैं। सावाजी की भी यह प्रार्थना गोसाईंजी ने व्यर्थ नहीं की था—

'कबहुँ अंब सुअवसर पाइ ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ ॥
जानकी जग जननि जन की किए बचन सहाइ ।'

उन्होंने पहले ही से महाराज से तुलसीदास की सिफारिश कर रखी थी। अंत में यह कहकर कि 'ठीक है, मुझे भी इसकी खबर है' महाराज भी प्रार्थनापत्र पर अपनी स्वीकृति लिख देते हैं—

'मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है।
कलिकालहुँ नाथ नाम सों परतीति प्रीति किंकर की निबही है॥
सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है।
कृपा गरीब नेवाज की देखत गरीब की बाँह गही है॥
बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है।
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ की सही है॥'

'मूल चरित' के अनुसार गोसाईंजी ने रामचरितमानस के अनंतर विनय-पत्रिका ही लिखी। इसकी रचना करने के अनंतर शीघ्र ही वे मिथिला चले जाते हैं, और मिथिला से लौटकर संवत् १६४० में काशी आते हैं। 'मिथिला तें काशी गए संवत् चालिस लाग।' यदि एक वर्ष भी इस यात्रा में लगा मानें तो १६३९ में वे काशी से मिथिला के लिये चले होंगे। अतएव १६३६ और १६३९ के बीच में किसी समय विनय पत्रिका बनी होगी।

वैराग्य-संदीपनी भी इसी समय का रचा हुआ ग्रंथ जान पड़ता है। उसमें गोसाईंजी अपने मन को कामादिक से दूर रखकर शांत रखने के लिये प्रसाधन करते दिखाई जान पड़ते हैं। बार बार वे अपने मन को राग-द्वेष से अलग रहने को कहते हैं और शांति की महिमा गाते हैं—

'सोइ पंडित सोइ पारखी सोई संत सुजान।
सोई सूर सचेत सो सोइ सुभट प्रमान॥
सोइ ज्ञानी सोइ गुनी जन सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि॥'

तुलसीदासजी के हृदय में राग द्वेष की सबसे अधिक संभावना उस समय थी जिस समय उनके रामचरितमानस के विरुद्ध काशी में एक बवंडर सा उठ रहा था और पंडित लोग उनको कई प्रकार से नीचा दिखाने का प्रयत्न कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि उत्तेजना का अवसर होने पर भी वे उत्तेजित नहीं हुए, क्योंकि उन्होंने इस समय भी अपने प्रभु का सहारा न छोड़ा—

'फिरी दोहाई राम की गे कामादिक भाजि।
तुलसी ज्यों रवि के उदय तुरत जात तम लाजि॥'

इसमें तो संदेह नहीं कि वैराग्य संदीपनी दोहावली के संगृहीत होने से पहले बनी, क्योंकि वैराग्य-संदीपनी के कई दोहे दोहावली में संगृहीत हैं। इस बात की आशंका नहीं की जा सकती है कि दोहावली ही से वैराग्य संदीपनी में दोहे लिए गए हों, क्योंकि वैराग्य-संदीपनी एक स्वतंत्र ग्रंथ है और दोहावली स्पष्ट ही संग्रह ग्रंथ। दोहावली का संग्रह १६४० में हुआ था। इससे यह ग्रंथ १६४० से पहले ही बन चुका होगा। जैसा ऊपर देख चुके हैं, हमें इसे विनय पत्रिका के साथ साथ का बना मानने का भी कारण विद्यमान है। कलिकाल की जिस कुचाल के विरुद्ध राम को उद्दिष्ट कर विनय पत्रिका लिखी गई उसी के विरुद्ध अपने मन को दृढ़ करने के लिये आत्मोपदेश के रूप में वैराग्य-संदीपनी भी रची गई।

संवत् १६४० में तुलसीदासजी ने अपने भिन्न ग्रंथों से दोहावली का संग्रह किया।

'मिथिला ते काशी गए चालिस संवत लाग।
दोहावलि संग्रह किए सहित विमल अनुराग॥'

इसके दो वर्ष पीछे गोसाईंजी ने सतसई का प्रणयन आरंभ किया। सतसई की रचना का काल उन्होंने स्वयं दे दिया है—

'अहि रसना (२) थन धेनु (४) रस (६) गणपति द्विज (१) गुरवार ।
माधव सित सिय जनम तिथि, सतसैया अवतार ॥'

'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार इनको उलटा गिनने से संवत् १६४२ निकलता है। सीता की जन्मतिथि वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की नवमी मानी जाती है। इस प्रकार सतसई की रचना संवत् १६४२ वैशाख सुदी ९ गुरुवार को हुई। वेणीमाधवदास ने भी लिखा है—

'माधव सित सिय जन्मतिथि ब्यालिस संवत् बीच ।
सतसैया बरनै लगे, प्रेम बारि तें सींच ॥'

तुलसी-सतसई एक संग्रह ग्रंथ भर नहीं है। अधिकांश दोहे इसके ऐसे हैं जो और किसी ग्रंथ में नहीं मिलते। एक सौ से अधिक दोहे दोहावली और सतसई दोनों में एक ही हैं। सतसई को गोसाईंजी ने सात सर्गों में विभक्त किया है। पहले सर्ग में भक्ति, दूसरे में उपासना पराभक्ति, तीसरे में सांकेतिक वक्रोक्ति से राम भजन, चौथे में आत्म-बोध, पाँचवें में कर्म सिद्धांत, छठे में ज्ञान-सिद्धांत और सातवें में राजनीति का निरूपण है।

कुछ विद्वानों को इस ग्रंथ के तुलसी-कृत होने में संदेह है, जिनमें पंडित रामगुलाम शर्मा और महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी प्रधान हैं। सुधाकरजी ने तो इसके रचयिता पद के लिये गाजीपुर-निवासी किसी तुलसी कायस्थ को ढूँढ निकाला था, क्योंकि इसमें मकरी के लिये गाजीपुरी शब्द कना आया है और कई छंद अंकगणित से संबंध रखते हैं। ऐसे तो कोई साहब 'गनी गरीब' कहने से तुलसीदास को ईरान ले पहुँचेंगे और ज्योतिष संबंधी दोहों के आधार पर किसी तुलसी जोशी (ज्योतिषी) की भी कल्पना कर डालेंगे। इस संदेह के दो और भी प्रधान कारण बताए जाते हैं, एक तो यह कि इसमें कूट रचना बहुत है, दूसरे इसमें और ग्रंथों के समान

रामभक्ति की नहीं, जानकी-भक्ति की प्रधानता है। परंतु इनमें कोई सार नहीं दीखता। जैसा गोसाईंजी की कला वाले अध्याय मे दिखाया जायगा, गोसाईंजी ने हिंदी मे प्रचलित सभी ढंग की रचनाओं मे अपना कौशल दिखलाया है। कूट को ही वे क्यों छोड़ते? फिर जो लोग सतसई को उनकी नहीं मानते व दोहावली को उनकी मानते हैं, यद्यपि दोहावली भी कूटों से खाली नहीं है। जानकी भक्ति की प्रधानता देखकर भी इस परिणाम की ओर उतावली से दौड़ नहीं लगानी चाहिए कि यह गोसाईंजी-कृत ग्रंथ नहीं है। १६३९-४० की उनकी जनकपुर यात्रा ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी भावना का झुकाव इस समय जानकीजी की ओर अधिक हो रहा था। वेणीमाधवदास ने जानकीजी के हाथ की खीर तक गोसाईंजी को खिलाई है। फिर जानकी भक्ति से राम विरोध तो प्रकट नहीं होता। इस ग्रंथ में जो मत प्रकट किया गया है वह भी अन्य ग्रंथों से विरोध करता नहीं दिखाई देता। अतएव हमें इसे तुलसीकृत मानने में कोई अड़चन नहीं दिखाई देती।

पार्वती मंगल, जानकी-मंगल और रामलला नहछू एक ही समय के लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं। इनकी शैली और भाषा एक ही प्रकार की है। पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल तो बिल्कुल एक ही ढाँचे मे ढाले गए से लगते हैं। वही छंद, वही क्रम, यहाँ तक कि मंगलाचरण का भी एक ही भाव है—

पार्वती मंगल—विनइ गुरहिं गुनि गनहिं गिरिहि गननाथहि।
जानकी मंगल—गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
पार्वती-मंगल—गावउँ गौरि गिरीस विवाह सुहावन।
जानकी-मंगल—सिय रघुबीर विवाह यथामति गावउँ।

वेणीमाधवदास के अनुसार इनकी रचना मिथिला में हुई—

'मिथिला में रचना किए, नहछू मगल दोय।
पुनि प्राते गनित किए, सुरत पावे सब लोय॥'

इन ग्रथा का उल्लेख मूल चरित मे सवत् १६६९ की घटनाओं के साथ किया गया है। परतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोसाईंजी ने इनकी रचना की। यहाँ उनकी पहली यात्रा से ही वेणीमाधवदास का तात्पर्य है। सवत् १६६९ मे तो गोसाईंजी ने उन्हें केवल अभिमन्त्रित किया जिससे वे विवाह आदि के अवसर पर गाए जाकर मगलकारी सिद्ध हो। १६७० के आरभ में गोसाईंजी इतने निर्बल हो गए थे कि अब पहले के बने हुए छोटे छोटे ग्रथों का फिर से सशोधन किया तो उन्हें दूसरों से लिखवाना पडा। ऐसी अवस्था मे यह समझना कि उन्होंने इससे थोडे ही समय पहले मिथिला-यात्रा की हो, यह सभाव्य नहीं जान पडता। वास्तव मे उस समय गोसाईंजी अखड काशी-वास कर रहे थे। पहली मिथिला-यात्रा गोसाईंजी ने सवत् १६४० से पहले की थी। १६४० मे वे मिथिला से काशी लौट आए थे। इससे मूल चरित के अनुसार इन तीन ग्रथों की रचना का काल स० १६३९ के लगभग ठहरता है। परतु स्वय गोसाईंजी के कथन से इस बात का खडन हो जाता है। गोसाईंजी ने जानकी-मगल और नहछू का समय तो नहीं दिया है, परतु पार्वती मगल का समय दे दिया है। इस ग्रथ के आरभ मे लिखा है—

जय सवत् फागुन सुदि पाँचैं गुरु दिनु।
अस्विनि विरचेउँ मगल सुनि सुख छिनु छिनु॥

इसके अनुसार तुलसीदासजी ने इसे जय सवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र मे बनाया। महामहोपाध्याय पडित सुधाकर द्विवेदी की गणना मे जय सवत् १६४२ मे पडता है। अत ये तीनों ग्रथ १६४३ के लगभग बनाए गए होंगे। पार्वती-

मगल मे १४८ तुक सोहर और १६ छदों मे शिव-पार्वती के विवाह का बडा रमणीक वर्णन है। जानकी-मगल मे, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सीता-राम के विवाह की कथा है। रामलला-नहछू सोहर छद के बीस तुकों का छोटा सा ग्रथ है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रात मे अवध से लेकर बिहार तक बारात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका मे वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छद है जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों पर गाती हैं। पडित रामगुलाम द्विवेदी का मत है कि नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है। सयुक्त प्रदेश, मिथिला आदि प्रातों मे यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचद्रजी का विवाह अकस्मात् जनकपुर मे स्थिर हो गया, इसलिये विवाह मे नहछू नहीं हुआ। गोसाईंजी ने इसे वास्तव मे विवाह के समय के गदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उनका मतलब रामविवाह ही से है। कथा प्रसग के पूर्वापर सबध की रक्षा का ध्यान इसी लिये उसमे नहा किया गया है।

रामाज्ञा शकुनावली भी तुलसीदासजी की बनाई हुई कही जाती है। इस ग्रथ म राम कथा के प्रसगों म शकुन विचारा गया है। डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने लेख 'नोट्स ऑन तुलसीदास' मे बाबू रामदीनसिंह के कथन के आधार पर इस ग्रथ की रचना के विषय मे एक कहानी लिखी है। वे लिखते हैं कि काशी मे राज घाट के राजा एक गहरवार क्षत्रिय थे, जिनके वशज अब मांडा और कतित के राजा हैं। उनके कुमार शिकार खेलने वन मे गए। उनके साथ के किसी आदमी को बाघ खा गया। राजा को समाचार मिला कि उन्हीं के राजकुमार मारे गए। राजा ने घबराकर प्रह्लाद घाट पर रहनेवाले प्रसिद्ध ज्योतिषी गगाराम को बुलाकर प्रश्न

किया। साथ ही यह भी कह दिया कि यदि आपकी बात सच निकलेगी तो एक लाख रुपया पारितोषिक मिलेगा, नहीं तो सिर काट लिया जायगा। गंगाराम एक दिन का समय लेकर घर आए और उदास बैठे रहे। कोई उपाय सोचते न बना। तुलसीदास और गंगाराम मे बड़ा स्नेह था। ये दोनों मित्र नित्य प्रति सध्या समय नाव पर बैठकर गंगा पार जाया करते थे और वहाँ भगवदुपासना मे मग्न होते थे। नित्य के अनुसार उस दिन भी तुलसीदासजी ने चलने को कहा पर उदासी के मारे गंगाराम ने जाने से अनिच्छा प्रकट की। तुलसीदासजी ने जब कारण सुना तब कहा कि घबराओ नहीं, मैं इसका उपाय कर दूँगा। निदान उपासना से छुट्टी पाकर लौट आने पर तुलसीदासजी ने लिखने की सामग्री माँगी। कागज तो मिला पर कलम दवात न मिली। तब उन्होंने सरकडे का एक टुकडा लेकर कत्थे से लिखना आरंभ किया और छ घटे मे बिना रुके हुए लिखकर इस रामाज्ञा को पूरा कर दिया। ज्योतिषीजी ने इसके अनुसार प्रश्न का फल विचारकर जाना कि राजकुमार कल सध्या को घड़ी दिन रहते कुशलपूर्वक लौट आवेंगे। सबरे जाकर उन्होने राजा से यह बात कही। राजा ने उन्हे सध्या तक कैद रखा। ज्योतिषी के बतलाए हुए ठीक समय पर राजकुमार लौट आए और उनको प्रतिज्ञानुसार लाख रुपए मिले। ज्योतिषीजी ने सारी पूँजी गोसाईंजी के चरणों पर अर्पित कर दी, पर उन्होने उसे स्वीकार नहीं किया। पर जब ज्योतिषी ने बडा आग्रह किया तब उसमे से बारह हजार रुपए लेकर उन्होंने हनुमानजी के बारह मंदिर बनवा दिए, जो अब तक हैं, क्योंकि यह हनुमानजी की ही कृपा थी कि गाढे समय मे उनकी आन रह जाती थी। इन सब मंदिरों मे यह विशेषता है कि इनमे हनुमानजी की मूर्ति दक्षिणमुखी है। हमारी समझ मे यह कहानी भर है जिसकी जड प्रथम सर्ग का यह उनचासवाँ दोहा है—

'सगुन प्रथम उनचास सुभ तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमिसुर गो-गन गंगाराम॥'

यह कथा वास्तव में सच नहीं जँचती। उस समय राजघाट का किला ध्वंस हो चुका था। महमूद गजनवी के सेनानायक सैयद सालार मसऊद (गाज़ी मियाँ) की लड़ाई में यह किला टूट चुका था। मुसलमानी समय में यहाँ के चकलेदार मुसलमान होते थे। अंतिम चकलेदार मीर रुस्तम अली थे, जो दशाश्वमेध के पास मीर-घाट पर रहते थे और जिनको वर्तमान काशिराज के वंश के संस्थापक मनसाराम ने भगाकर काशी का राज्य लिया था।

पर चाहे गोसाईंजी ने इस ग्रंथ को किसी के अनुरोध से बनाया हो या अपनी ही इच्छा से, इस बात में संदेह नहीं कि यह शकुन विचारने के उद्देश्य से लिखा गया है। इसके दोहों में बराबर शकुन विचारा गया है और अंत में शकुन विचारने की विधि भी दी है—

'सुदिन साँझ पोथी नवति पूजि प्रभात सप्रेम।
सगुन बिचारब चारुमति सादर सत्य सनेम॥
मुनि गनि दिन गनि धातु गनि दोहा देखि बिचारि।
देस, करम, करता, बचन सगुन समय अनुहारि॥'

यह ग्रंथ प्रह्लाद घाट पर एक ब्राह्मण के यहाँ था। इसकी नकल प्रसिद्ध रामायणी लाला छक्कनलाल मिरजापुरवाले ने संवत् १८८४ में की था। मूल ग्रंथ संवत् १६५५ जेठ सुदी १० रविवार का लिखा हुआ था और कत्थे के ऐसे रंग से लिखा सा जान पड़ता था। इससे यही कहा जा सकता है कि यही गोसाईंजी के हाथ की लिखी मूल प्रति रही होगी। इसको और भी बहुत से लोगों ने देखा था परंतु दुर्भाग्यवश अब वह चोरी हो गई है।

जो पहले के बनाए दोहे किसी प्रकार के शकुन के द्योतक हो सकते थे उनको भी गोसाईंजी ने इस ग्रंथ में रखा है। विशेषकर दोहावली के दोहे इसमें बहुत हैं। इसके सातवें अध्याय का २१ वाँ दोहा—

'राम वाम दिसि जानकी लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय सुरतरु तुलसी तोर॥'

वैराग्य-संदीपनी और दोहावली दोनों का पहला दोहा है। और ग्रंथों से जो दोहे इसमें लिए गए हैं उनकी एक सूची डाक्टर ग्रिअर्सन ने अपने "नोट्स ऑन तुलसी" में दी है।

रामाज्ञाशकुनावली गोसाईंजी ने संवत् १६५५ में रची। इस संवत् के पहले और पीछे १२, १४ वर्ष का ऐसा काल पड़ता है जिसके बीच के लिखे हुए तुलसीदासजी के कोई ग्रंथ नहीं मिलते। यह तो संभव नहीं है कि उन्होंने इन २५, ३० वर्षों के भीतर रामाज्ञा-शकुनावली को छोड़कर और कुछ न लिखा हो। एक बार जब कवि की अमंद प्रभा देदीप्यमान हो उठती है तब उसकी किरणें फिर प्रायः यों ही अपने में सिमिट नहीं जातीं। इस बीच में गोसाईंजी बहुधा पर्यटन ही करते रहे। इससे किसी बड़े ग्रंथ के रचने का अवकाश तो मिल नहीं सकता था। परंतु यह संभव है कि अवसर अवसर पर गोसाईंजी ने फुटकर पद, कवित्त, अथवा दोहे कहे हों जो आगे चलकर यथानुकूल गीतावली, विनयपत्रिका अथवा कवितावली में मिला लिए गए हों। यह भी हो सकता है कि उनके ग्रंथों की रचना ठीक इस क्रम से न हुई हो जिस क्रम से हमने माना है और वे उनके संपूर्ण रचना-काल में फैले हों, जिससे इस प्रकार का अंतर बीच में न रहा हो।

और जो कुछ हो परंतु इतना निश्चय है कि उनकी प्रतिभा बिल्कुल सो नहीं गई थी, क्योंकि उन्होंने इस २५ वर्ष के अंतर के

अत मे सवत् १६६९ मे हिंदी साहित्य का एक अमूल्य रत्न भेंट किया जिसकी परख बडे जौहरी ही कर सकते हैं। यह रत्न बरवै रामायण है। बरवै एक छोटा सा छद है। पूर्वी अवधी मे यह बहुत ही बढिया बनता है। कहते हैं कि खानखाना ने अपने मुशी की स्त्री के बनाए हुए एक बरवै को देखकर उसे बडा पसद किया और स्वय बरवै छद मे बहुत रचना की तथा इस छद के प्रचार का भी प्रयास किया। उनका नायिका-भेद बरवै छद मे ही है। इसके अतिरिक्त भक्तिरस का भी बरवै नाम का उनका एक छोटा सा ग्रथ मिलता है। अपने मित्रों से भी उन्होंने बरवै लिखने का आग्रह किया होगा। तुलसीदासजी की बरवै रामायण उन्हीं के आग्रह का परिणाम कही जाती है। वेणीमाधवदास ने मूल चरित म लिखा है कि सवत् १६६९ में रहीम ने गोसाईंजी के पास बरवै रचकर भेजे। उस छद को पसद कर स्वय गोसाईंजी ने भी उनमे रचना की। इससे ऊपर लिखी किवदती की पुष्टि होती है। नायिका-भेद के बरवै तो रहीम ने गोसाईंजी के पास क्या भेजे होगे। विषय के कारण उन्हे वे पसद न करते। भक्ति-सबधी बरवै ही भजे होगे। उन्हा को देखकर गोसाईंजी को बरवै छद मे रामचरित कहने का इच्छा हुई होगी।

पडित शिवलाल पाठक कहा करते थ कि गोसाईंजी की बरवै रामायण बहुत भारी रचना है। पर इधर आजकल जो बरवै रामायण मिलती है वह मूल ग्रथ का कुछ ही अश है और इतनी छिन्न भिन्न है कि उससे एक सपूर्ण ग्रथ का सा आभास नहीं मिलता। उसे पढकर कुछ ऐसा भास होता है मानों यह अवसर अवसर पर बने फुटकर पदों का सग्रह हो। इसमे मगलाचरण का न होना भा इस बात की ही सूचना देता जान पड़ता है कि ग्रथरूप मे इसकी रचना नहीं हुइ थी। यही दशा रामचरितमानस को छाड़

और सभी रामायणों की हैं। परन्तु शिवलाल पाठक का कथन भी बिल्कुल असगत नहीं जान पडता। अतएव निश्चित रूप से इस विषय मे कुछ नहा कहा जा सकता। इसमे कोई सदेह नहा कि इस ग्रथ की रचना बडी मनोहारिणी हुई है। यदि शिवलालजी का कथन सत्य हो और पूरा ग्रथ मिल जाय तो सभवत कला-चमत्कार की दृष्टि से इसी को गोसाईंजी के ग्रथों मे सर्वोच्च स्थान मिले।

गोसाईंजी की यही अतिम महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके पीछे भी गोसाईंजी समय समय पर अवसर के अनुसार कुछ न कुछ कहते रहे परन्तु वे प्रत्यक्ष ही उतने अच्छे नहीं बने। बाद की रचनाओं में, जो और रचनाओं से स्पष्ट अलग की जा सकती हैं, प्रधान हनुमानबाहुक है, जिसमे उन्होंने बाहु-पीडा से पीडित होकर हनुमानजी की स्तुति की है। बहुत से लोगों को इसके गोसाईंजी द्वारा रचित होने मे भी सदेह है। कदाचित् इसी कारण कि वह इतना अच्छा नहीं बन पडा है जितनी उनकी और रचनाएँ। मरते दम तक उनकी वाणी राम का स्मरण करती रही। मौत की घडी निकट देखकर उन्होंने सवत् १६८० मे कहा था—

'रामचद्र जस बरनिक, भयो चहत अब मान।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सौन॥'

यह गोसाईंजी की अतिम रचना है जो पीछे से उनकी सतसई में सम्मिलित कर ली गई।

(६) मित्र और परिचित

गोसाईं तुलसीदास अपने समय के बहुत प्रसिद्ध महात्मा हुए। उनकी प्रसिद्धि उन्हीं के जीवन काल मे हो गई थी। मूल गोसाईं-चरित के अनुसार उनकी उतनी प्रसिद्धि उनकी रचनाओं के कारण नहीं हुई, जितनी उनकी एकांत भगवद्भक्ति और ऊँची लगन के कारण। जब वे अभी रामचरितमानस के रचयिता भी नहीं हुए थे तभी से छोटे बडे सभी लोग उनके दर्शनों अथवा उनके आशीर्वादों के अभिलाषी होने लगे थे।

इसमे तो सदेह नहीं कि गोसाईंजी ऐसे प्रसिद्ध महात्मा के परिचित जनों की परिधि बहुत विस्तीर्ण रही होगी। गोसाईंजी के कई सत्सगियों के नाम प्रसगवश पहले आ चुके हैं। अपने काल के प्राय सभी साधु-महात्माओं से उनका परिचय रहा होगा। वेणीमाधवदास ने भी यही दिखलाया है। परतु जिस ढग से वेणीमाधवदास ने इस परिचय का उदय बताया है वह अतिरजित है, उसमे अपने गुरु की महत्ता को बढाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। गोसाईंजी स्वय किसी से मिलने नहीं जाते। जो आता है उन्हीं के दर्शनों के लिये आता है। जो बेचारे वृद्धावस्था के कारण भ्रमण के अयोग्य थे तथा अन्य कारणों से स्वय दर्शनों के लिये नहीं आ सकते थे उन्हें पत्रों द्वारा गोसाईंजी की कृपा का प्रार्थी होना पडा। वृद्ध हित हरिवशजी से उनके शिष्य नवलदास द्वारा गोसाईंजी के पास पत्र और उनकी रचनाएँ यमुनाष्टक, राधिकातत्र और राधासुधानिधि भिजवाई गई हैं। पत्र में हितहरिवशजी से यह प्रार्थना कराई गई है कि महाराम की शरत्-पूर्णिमा आनेवाली है। उस समय मैं शरीर

त्याग करना चाहता हूँ। आशीर्वाद दीजिए कि मैं श्री निकुंज में प्रवेश कर सकूँ। परंतु यह नहीं समझ में आता कि ऐसे इच्छा-मृत्यु अथवा भविष्य के ज्ञाता को किसी के आशीर्वादों की क्या आवश्यकता हुई। इस घटना का जो समय वेणीमाधवदास ने दिया है वह भी ठीक नहीं जान पड़ता। यह घटना उनके अनुसार १६०७ और १६१६ के बीच की है, परंतु हितहरिवंशजी का १६२० तक जीवित रहना पाया जाता है। इस संवत् में उन्होंने ओड़छा के हरिराम व्यास को अपना शिष्य बनाया था। वेणीमाधवदास के कथन से यदि कोई तथ्य निकाला जा सकता है तो केवल यही कि गोसाईंजी की कहीं हितहरिवंशजी से भेंट हुई थी।

इसी प्रकार वेणीमाधवदास ने चित्रकूट के पास कामद वन में विट्ठलनाथजी* के भेजे सूरदासजी का सं० १६१६ के आरंभ में आकर गोसाईंजी को अपना सूर-सागर दिखलाना लिखा है। समय की दृष्टि से तो इसमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि संवत् १६२० तक सूरदासजी वर्तमान थे। इस बात में भी संदेह नहीं कि गोसाईंजी ने सूरसागर देखा था। उनकी कृष्णगीतावली में कई पद सूरसागर के हैं। रामगीतावली में भी सूरसागर के पद मिलते हैं। परंतु यह बात मानने योग्य नहीं कि ७६ वर्ष के बूढ़े सूरदासजी तुलसीदासजी के दर्शनों के लिये कामद वन गए हों और वह भी एक ऐसे व्यक्ति को सूरसागर ऐसी उत्कृष्ट रचना दिखलाने के लिये जिसने कविता के नाम पर उस समय तक एक भी अक्षर न लिखा हो। पंडित महादेवप्रसाद त्रिपाठी ने अपने भक्तिविलास ग्रंथ में सूरदासजी की व्रज में गोसाईंजी से भेंट होना लिखा है, जो मान्य भी है।

---

* मूल गोसाईं चरित की जो प्रति मिली है उसमें गोकुलनाथ लिखा है जो स्पष्ट ही लेखनी का प्रमाद मालूम पड़ता है, क्योंकि जैसा पंडित मयाशंकर याज्ञिक ने बताया है, गोकुलनाथ उस समय केवल आठ वर्ष के बालक थे।

कहते हैं वहाँ किसी ने तुलसीदासजी से सूरदासजी की प्रशंसा की, इस पर तुलसीदास ने कहा—

'कृष्णचन्द्र के सूर उपासी।
तातें इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचन्द्र हमरे रखवारा।
तिनहि छाँडि नहि कोउ संसारा॥'

यदि कोई सूरदास गोसाईंजी से मिलने गए हों हों तो वे महाकवि सूरदास नहीं, कोई दूसरे सूरदास रहे होंगे। एक दूसरे सूरदास का वर्णन आईन अकबरी में मिलता है जो अकबरी दरबार में रामदास गायनाचार्य के पुत्र थे। सभवत यही गोसाईंजी के दर्शनों के लिये गए हो। हमारा अनुमान है कि इसी प्रकार हितहरिवंशजी से भी गोसाईंजी की भेंट ब्रज या मथुरा में हुई होगी।

गोसाईंजी से मीराबाई का पत्र-व्यवहार प्रसिद्ध ही है। ये मेवाड़ के राजकुमार भोजराज की वधू थीं और बड़ी भगवद्भक्त थीं। पतिदेव के स्वर्गवासी हो जाने पर इनकी भावनाओं के एक-मात्र आधार भगवान् और उनके भक्त हो गए। साधु समागम मे ही उनका समय बीतने लगा। भक्ति के आवेश मे कभी वे प्रार्थना के पद गाती हुई विह्वल होकर कृष्ण का मूर्ति के सामने नाचने लगतीं। घर के लोगों को यह बात बुरी लगती थी, परतु जब तक उनके ससुर महाराणा सग्रामसिंह और उनके बाद उनके देवर रत्न सिह गद्दी पर रहे तब तक किसी तरह यह बात निभती रही, परतु उनके दूसरे देवर विक्रमाजीतसिंह के गद्दी पर बैठने पर उनके भजन मे भग पडने लगा। नए महाराणा उन्हें बहुत सताने लगे। उन्हे विष तक दिलाए जाने की बात कही जाती है, जिससे अभीष्ट सफल नहीं हुआ। इस अत्याचार से तग आकर मीराबाई ने पत्र द्वारा

गोसाईंजी की सम्मति माँगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए। कहते हैं कि मीराबाई ने यह पद्य-बद्ध पत्र भेजा था—

'श्री तुलसी सुख निधान दुख हरन गुसाईं।
बारहि बार प्रनाम करूँ हरो सोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई॥
बालपने ते मीरा कीन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटै नहि क्यों हूँ लगी लगन बरियाई॥
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भगतन सुखदाई।
हम कूँ कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाइ॥'

इसके उत्तर में गोसाईंजी ने यह पद लिख भेजा—

'जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रह्लाद बिभीषन बंधु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनितन भे सब मगलकारी॥
नातो नेह राम सो मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जो फूटै बहुतक कहौ कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥'

यह पद विनयपत्रिका में संगृहीत है। इससे इस पत्र व्यवहार की कथा पुष्ट होती है।

यह उत्तर पाकर मीराबाई अपने मायके मेड़ते चली गई। वेणीमाधवदास ने भी इस पत्र-व्यवहार का उल्लेख किया है। पत्रवाहक का नाम उसने सुखपाल ब्राह्मण लिखा है और इसे सं० १६१६ की घटना बतलाया है। संभवतः और पत्र व्यवहारों की कल्पना भी उसे इसी किंवदंती ने सुझाई हो, परंतु यह किंवदंती इतनी प्रसिद्ध

है कि और पत्र व्यवहारों की तरह इसे भी सहसा असत्य मान बैठना अनुचित है। हाँ, वेणीमाधवदास ने इसका जो सवत् दिया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तव मे उससे तेरह वर्ष पहले मीरा बाई की मृत्यु हो जाने के प्रमाण मिलते हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मुशी देवीप्रसादजी ने इनका मृत्यु-सवत् बहुत खोज के उपरांत १६०३ ठहराया है। यदि जैसा भारतेंदु बाबू हरिश्चद्र ने उदयपुर दरबार की अनुमति से माना है, मीराबाई की मृत्यु १६२० म मानी जा सके तो वेणीमाधवदास का दिया हुआ सवत् ठीक हो सकता है। परतु भारतदुजी के मत के पक्ष मे कोई प्रमाण अब तक नहीं मिले हैं। हो सकता है कि यह घटना सवत् १५६८ की हो। मूल गोसाईं-चरित के अनुसार उस समय गोसाईंजी द्वारका से बदरीनाथ जाते रहे होंगे। सभव है वे राजस्थान से होकर गए हो। उस समय गोसाईंजी की अवस्था चवालीस वर्ष की रही होगी।

काशी मे टोडरमल नाम के एक भुईंहार जमादार रहते थे जिनसे गोसाईंजी की बडी घनिष्ठता हो गई थी। वल्लभ सप्रदाय के गोसाइयों के विरोध से जब गोसाईंजी को गोपाल-मदिर छोडना पडा, तब इन्होने उनके लिये अस्सी पर एक मदिर बनवा दिया और वे आग्रह-पूर्वक उनको वहाँ ले गए। वहा गोसाईंजी का मृत्यु पर्यंत रहना पाया जाता है। इन टोडरमल की मृत्यु गोसाईंजी के सामने ही हो गई थी। किंवदती है कि गोसाइयों ने ही इन्हें मारा था। परतु मूल गोसाईं चरित इनका पूर्णायु भोगकर मरना मानता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि वे स्वाभाविक मृत्यु से मरे थे। इनकी मृत्यु से गोसाईंजी को बडा दु ख हुआ था। वेणीमाधव-दास के अनुसार तीन दिन तक तो वे बडी विकल अवस्था मे रहे। अनतर अपने मित्र की प्रशंसा मे उन्होंने निम्नलिखित दोहे कहे—

'चार गाँव को ठाकुरो मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथये टोडर दीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नयनन सींचिहो समुझि समुझि अनुराग॥
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥'

इन टोडरमल का इलाका काशी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैला था। उसमे भदैनी, नदेसर, शिवपुर, छीतूपुर और लहरतारा ये पाँच गाँव थे। भदैनी अब काशिराज की जमादारी मे है। अस्सी घाट इसी के अतर्गत है। नदेसर मे कुछ ही समय पूर्व तक सरकारी दीवानी कचहरी थी। शिवपुर पचक्रोशी मे है। यहाँ पाँचों पांडवों का मदिर और द्रौपदी कुड है। अकबर के प्रसिद्ध मन्त्री राजा टोडरमल ने इस कुड का जीर्णोद्धार कराया था। एक शिलालेख वहाँ इस बात का स्मारक है। अनुमान किया जाता है कि बगाल की लडाई पर जाते समय राजा टोडरमल ने इसका जीर्णोद्धार कराया होगा। छीतूपुर भदैनी से और पच्छिम की ओर नगवा के पास है और लहरतारा काशी के छावनी स्टेशन के पास। किवदती है कि नीरू और नीमा ने कबीर को इसी लहरतारा की झील मे बहते पाया था।

डाक्टर ग्रिअर्सन का अनुमान है कि गोसाईजी के मित्र टोडरमल अकबर के प्रसिद्ध वजीर राजा टोडरमल से भिन्न कोई व्यक्ति न थे। इस अनुमान का आधार द्रौपदी-कुड का शिलालेख है। इसी से राजा टोडरमल के जन्मस्थान लहरपुर (अवध) को उन्होने बड़ सुगते से लहरतारा अनुमान कर लिया। परतु डाक्टर ग्रिअर्सन

का अनुमान ठीक नहीं है। स्वय गोसाईंजी ने अपने मित्र के लिये "चार गॉव की ठाकुरी" कहा है जो राजा टोडरमल पर नहीं लग सकता। इसी तरह एक पचनामे में, जिसका उल्लेख करने का अभी अवसर आवेगा, नगर के काजी ने उनका नाम बडे साधारण तरीके से लिया है। पचनामे पर काजी ने लिखा था—"आनद-राम बिन टोडर बिन देवराम व कँधई बिन रामभद्र बिन टोडर मज कूर दर हुजूर आमद।" उस "बद निवाजी" के युग मे राजा टोडर-मल का नाम इस बेतकल्लुफी से नहीं लिया जा सकता था। द्रौपदी-कुड का शिला-लेख राजा टोडरमल को "श्रीमट्टडनवशमडनमणि" कहता है जिससे स्पष्ट है कि वे टडन खत्री थे। परतु यह टोडर-मल भूमिहार थे। इनके वशजो की कुछ स्थावर सपत्ति अब तक काशी मे है, जब कि राजा टोडरमल का वहाँ द्रौपदी कुड के शिला लेख को छोड और कोई चिह्न नहीं है। इन टोडरमल के लडकों के नाम आनंदराम और रामभद्र पाए जाते हैं, जब कि राजा टोडरमल के पुत्रों का नाम धरु टडन और गोवर्धनधारी टडन था। रामभद्र अपने पिता के सामने ही मर गया था परतु राजा टोडरमल के दोनों पुत्र उनके पीछे तक जीवित रहे। इस प्रकार ये दोनों टोडरमल भिन्न भिन्न व्यक्ति थे।

टोडरमल की मृत्यु के पीछे भी उनके कुल मे गोसाईंजी का सम्मान बना रहा। अब तक उनके वशज गोसाईंजी का पुण्य तिथि को सीधा दिया करते हैं। टोडरमल के पुत्र आनदराम और पोते कँधई के बीच जायदाद के बँटवारे के सबध में बडा झगड़ा हुआ था। उसकी पचायत भी गोसाईंजी ने ही की थी। इस समय गोसाईंजी की अनुमति से जो पचनामा लिखा गया था उसमे आरभ में मगलाचरण पर एक श्लोक और दो दोहे गोसाईंजी के हाथ के लिखे कहे जाते हैं, जो मान्य भी है, क्योकि इनकी लिखावट सरस्वती

पचनामा

भवन मे रक्षित गोसाईंजी के हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड से बिलकुल मिलती है। पाठकों की कुतूहल-शांति के लिये पचनामे के प्रधान अश की नकल नीचे दी जाती है। उसका फोटो भी हम इस पुस्तक मे दे देते हैं।

'श्रीजानकीवल्लभो विजयते।
द्विश्शरं नाभिसंधत्ते द्विस्स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नैव भाषते॥
तुलसी जान्यो दसरथहि धरमु न सत्य समान॥
रामु तजो जेहि लागि बिनु राम परिहरे प्रान।
धर्मो जयति नाधमस्सत्यं जयति नानृतम्।
क्षमा जयति न क्रोधो विष्णुर्जयति नासुरा॥'

(नीचे की कुछ पक्तियो की इबारत फारसी मे है, यहाँ उसकी हिंदी प्रतिलिपि दी जाती है।)

चूँ आनदराम बिन टोडर बिन देओराय व कन्हई बिन रामभदर बिन टोडर मजकूर।

दरहुजूर आमद करार दादद कि दर मवाजिए मतरूक कि तफसालि आं दर हिंदवी मजकूर अस्त।

बिल मुनासफ बतराजीए जानिबैन करार दादेम व यक सद व पिजाह बीघा जमीन ज्याद किस्मति मुनासफ खुद।

दर मौजे भदैनी अनदराम मजकूर व कन्हई बिन रामभदर मजकूर तजवीज नमूद।

बरी मानी राजीगश्त इतराफ सहीह शरई नमूदद बनाबरि आं सुहू करद शुद।

श्रीपरमेश्वर

सवत् १६६९ समये कुआर सुदि तेरसी वार सुभ दीने लिपीतं पत्र अनंद राम तथा कन्हइ के अश विभाग पुर्वक आगे के आग्य दुनहु

जने मागा जे आग्य मै शे प्रमान माना दुनहु जने विदित तफसीलु अशु टोडरमलु के माह जे विभाग पदु होत रा

अश अनदराम	अश कन्हइ
मौजे भदैनी मह अश पाच तेहि मह अश दुइ अनदराम तथा लहरतारा सगरेउ तथा छितुपुरा अश टोडरमलु क तथा नयपुरा अश टोडरमलु क हील हुज्जती नास्ती लिपीत अनदराम ज ऊपर लिपा से सही।	मौजे भदैनी मह अश पाच तेहि मह तीनि अश कन्हइ तथा मौजे शिवपुरा तथा नदेसरी अश टोडरमलु क हील हुज्जती नास्ती, लिपीत कन्हई जे ऊपर लिपा से सही।

इसके बाद तैतीस साक्षियो के हस्ताक्षर हैं और फिर लिखा है—

शहद व माफिह जलाल मकबूली बिखत ही	शहद व माफिह ताहिर इबनी ख्वाज दौलते कानूनगोय

मुहर सादुल्लाह बिन

(फिर अधिकारियों की ओर से दोनों के विभाग लिखे गए हैं और नीचे अस्पष्ट अक्षरो में काजी के हस्ताक्षर हैं, जिसको लोगों ने अन्हरुल्ला पढा है)

यह पचनामा ग्यारह पीढी तक टोडर के वश म रहा। ११ वीं पीढी म पृथ्वीपालसिंह ने उसे काशिराज को दे दिया। अब भी यह काशिराज क यहाँ अच्छी तरह सुरक्षित है। इसका फोटो हम इस पुस्तक में देते हैं।

रासपचाध्यायी और भ्रमरगीत के रचयिता प्रसिद्ध कवि नददासजा स भी गोसाईंजी का बडा स्नेह था। वे उन्हें अपने छोटे भाइ क समान मानते थ। दा सौ बावन वैष्णवों का वार्त्ता से पता लगता है कि जब एक समय मथुरा से वैष्णवो की मडली काशी आई थी तब गोसाईंजी बडी उत्सुकता स नददास का कुशल पूछन क

लिये उन लोगों के पास गए थे। इसी प्रकार जब गोसाईंजी ब्रज गए थे तब स्वय मथुरा जाकर उन्होंने उनकी ढूँढ की और मिलने पर जी भर उलाहना देकर साथ चलने का आग्रह किया। वार्त्ता उनके मुँह मे इन मीठे शब्दों को रखती है—"जो नददास तू ऐसो कठोर क्यों भयो है तेरो मन होय तो अजुध्या म रहियो, तेरो मन होय तो प्रयाग मे रहियो, चित्रकूट मे रहियो।" इसी से वे गोसाईंजी के छोटे भाई प्रसिद्ध हो गए थे। वार्त्ता मे भी वे उनके भाई ही माने गए हैं। परतु साथ ही वार्त्ता ने उन्हें सनाढ्य भी कहा है जिससे उनका गोसाईंजी का भाई होना नहीं घटता। अतएव श्रीवैजनाथजी ने उन्हें अपनी रामायण की भूमिका मे गोसाईंजी का गुरु भाई कहा। इधर वेणीमाधवदास के मूल-चरित से पता चलता है कि वे गोसाईंजी के गुरु भाई थे किंतु सनाढ्य न होकर कान्यकुब्ज थे। यह सगत भी जान पडता है। दोनों ने काशी मे एक ही गुरु से शिक्षा प्राप्त की थी, यह हम पीछे देख ही चुके हैं।

अकबर के प्रसिद्ध वजीर नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना भी गोसाईंजी के प्रेमियों मे से थे। वे गोसाईंजी का बडा सम्मान करते थे। 'नरतिय सुरतिय नागतिय'वाले दोहे के सबध मे अन्यत्र कहा जा चुका है। उसका पूर्वार्ध उन्होंने एक गरीब ब्राह्मण के हाथ जो दरिद्रता के कारण अपनी पुत्री का विवाह नहीं करा सकता था खानखाना के पास भेजा था। खानखाना ने उस ब्राह्मण को बहुत कुछ दान देकर उसी के हाथों उस दोहे की पूर्ति-कर गोसाईंजी के पास भेज दी। खानखाना को गोसाईंजी की रचनाओं पर भी बडा प्रेम था। वेणीमाधवदास ने लिखा है कि वे यमुना-तट पर सभवत दिल्ली या आगरे मे तीन साल तक सडीले के नंदलाल के शिष्य दयालुदास से गोसाईंजी का रामचरितमानस बड़े प्रेम से सुनते रहे। गोसाईंजी को भी रहीम के बरवै बड़े

पसद आए थे और उन्हीं के आग्रह पर उन्होंने बरवै रामायण की रचना की थी।

आमेर के महाराजा मानसिह और उनके भाई जगतसिह भी गोसाईंजी के पास प्राय आते थे। इसी पर एक दिन किसी ने गोसाईंजी से पूछा—"महाराज। पहले तो आपके पास कोई नहीं आता था और अब इतने बडे बडे लोग आया करते हैं इसका क्या कारण ?" उन्होंने कहा—

'लहै न फूटी कौड़िहूँ को चाहै केहि काज।
सो तुलसी महँगो कियो राम गरीब निवाज॥
घर घर माँगे टूक पुनि भूपति पूजे पाय।
ते तुलसी तब राम बिनु, ये अब राम सहाय॥'

अकबरी दरबार के कवि गग भी, वेणीमाधवदास के अनुसार, गोसाईंजी से मिलने गए थे। जरा मनचले आदमी थे। गोसाईंजी पर भी छींटे डाले बिना न रह सके। बोले—गजराज ने कौन माला जपी थी जो भगवान् उनकी रक्षा के लिये दौडे चले आए। मतलब यह था कि आप यह जो माला फेरते हैं सब पाखड है, भक्ति मन की होती है, तन की नहीं, जो व्यक्ति मरने मरते यह कहता गया—

'कबहुँ न भँडुआ रण चढे कबहुँ न बाजी बब।'

उसे यह आक्षेप करते क्या देर लगती थी ? गोसाईंजी ने इस पर कुछ नहीं कहा, क्योंकि वे प्रशसा या निदा की सीमा के बाहर थे परतु गग को इसका दैवी दड मिला—

'मारग में हाथी दियो रूपट गग तनु भग।'

तुलसीदासजी को 'पाखडी कठमलिया' कहने से ही गग पर यह दैवी कोप हुआ। इसमें तो स्पष्ट ही वेणीमाधवदास की अध गुरु भक्ति दिखाई देती है। परतु गग के हाथी के द्वारा मारे जाने की बात असत्य नहीं है। वे बहुत मुँहफट आदमी थे। जो कुछ

जी में आता था उसके कहने में चूकते न थे। किसी राजा, नवाब अथवा स्वयं बादशाह ने ही चिढ़कर हाथी से चिरवा दिया होगा। किसी ने कहा भी है—

'गंग ऐसे गुनी को गयद सो चिरायो है ?'

देव ने भी कहा है—

'एक भए प्रेत एक मींजि मारे हाथी।'

किसी और कवि ने कहा है—

'सब देवन को दरबार जुरयो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू ते अर्थ कह्यो न गयो तब नारद एक प्रसंग चलायो॥
मृत लोक में है नर एक गुनी, कहि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को, तब गंग को लेन गनेस पठायो॥'

वेणीमाधवदास ने यह घटना संवत् १६६९ की बताई है। संवतों के विषय में एकाएकी वेणीमाधवदास का अंध अनुसरण ठीक नहीं है, परंतु इस संवत् को जाँचने का कोई साधन अब तक नहीं मिला।

आचार्य केशवदास का भी, मूल गोसाईं-चरित में, गोसाईंजी के दर्शनों के लिये आना लिखा है। कहते हैं, उस समय एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई। जब शिष्य ने केशवदासजी के आने की खबर गोसाईंजी के पास पहुँचाई तब उन्होंने कहा प्राकृत कवि केशवदास को ले आओ। केशवदासजी ने यह कथन सुन लिया। यह बात उन्हें बहुत खटकी। वे यह कहकर लौट गए कि कल फिर आकर मिलूँगा। उन्होंने सोचा कि इन्हें रामचरितमानस रचने का बहुत गर्व हो गया है, इन्हें दिखलाना चाहिए कि हम भी रामचंद्र का यश वर्णन कर सकते हैं। रातों-रात उन्होंने रामचंद्रिका रच डाली और दूसरे दिन जाकर गोसाईंजी को दिखलाई। यह बात तो कदापि मान्य नहीं हो सकती कि रामचंद्रिका जैसे बृहत् और क्लिष्ट ग्रंथ की रचना एक ही रात में हुई होगी, परंतु यह अवश्य प्रकट होता है कि—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'
के परिहार के लिये ही उन्होंने देव काव्य की रचना की। कहते हैं जब केशवदास का गोसाईंजी से वार्त्तालाप हुआ तब उन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और अनुभव हुआ कि सत महात्माओं का गर्व से कोई सबध नहीं। उनके मन का क्षोभ मिट गया। साहित्य-शास्त्र की चर्चा छिडी और खूब रस-रग रहा। इस अवसर पर बलभद्र, घनश्याम और घासीराम वहाँ आए हुए थे। ये बलभद्र सभवत केशवदास के बडे भाई और नख शिख के कर्त्ता थे। घनश्याम के विषय म कहा गया है कि ये नभ के बसिया थे। नहीं कह सकते कि नभ किसी गाँव का नाम था अथवा ये कोई ऐसे चमत्कारी जीव थे कि आकाश में भी विचरण करनेवाले प्रसिद्ध हो गए थे। इसी प्रकार कई अन्य साधु-महात्माओं का, जो गोसाईंजी के दर्शनों के लिये आए थे, वेणीमाधवदास ने उल्लेख किया है, जैसे—यादवप्रकाश, चित्सुखाचार्य, करुणेश (सभवत कर्णाभरण के रचयिता), सदानद, मुरारिदेव, दिगबर परमहस, विरही भगवत, देवी, विमलानंद, दिनेश और कोई पिल्ले जिनके नाम से पता चलता है कि वे दाक्षिणात्य थे।

कुछ दिन पीछे बीजापुर आदिल शाही राज्य के दानधर्माध्यक्ष ब्राह्मण दत्तात्रेय गोसाईंजी के आश्रम मे आए और उनकी वदना करके उन्होंने गोसाईंजी से कुछ प्रसाद चाहा। गोसाईंजी ने उन्हें अपने हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण की प्रति समर्पित की। जान पडता है कि यह वही प्रति है जो गोसाईंजी ने स० १६४१ में काशी में लिखी थी। काशी के सरस्वती भवन में वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड की एक प्रति है जिसकी पुष्पिका में लिखा है—

'इत्यार्षे रामायणे वाल्मीकीये चतुर्विंशतिसाहस्र्यां सहितायां उत्तरकांडे स्वर्गारोहणक नाम सर्ग। शुभमस्तु। समाप्त येद

कमद्यादथवा पवेत् पापान्यपि सदा कुर्वन् स पापेन न लिप्यते ॥ अयोध्या नगरी रम्या ... न्याता ...
... न्मसू ... पवेत् ... पापान्यपि सर्वाणि कुर्वन् ... सभा ... भार्गवो धीमान्
मि ... राजा ... पठेत् ... सर्वदा पठते ... ब्रह्मलोकं स गच्छति ... ।
... पवेदेकं श्लोकं वा सर्वपापात् प्रमुच्यते सर्वदा पठते ... ॥ ॥ रामायणे वाल्मी
... पवेदेकं श्लोकं वा सर्वपापात् प्रमुच्यते ॥ ॥ ... ॥ ॥ समा
ख्यानमध्यमसर्ग ... द्विजाः ... कृतवान् स्वर्ग ... धीमान् ... पद्यते ॥ ॥ अथ ... ॥ ॥ समा
... विंशतितमाः ... ॥ ॥ संवत् १६४१ ... ले. तुलसीदासेन ॥
... महाकाव्य श्रीरामायण ... ॥ ॥ संवत् १६४१ ... ॥ ... वाल्मीके ...
श्रीमद्दिल्लीशाह ... दिया दाना ... प्रभुः ...
मुत्रमापुर ... लिपिकृतं कर्म ... ॥ १ ॥

वाल्मीकीय रामायण का अंतिम पृष्ठ

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'
के परिहार के लिये ही उन्होंने देव-काव्य की रचना की। कहते हैं जब केशवदास का गोसाईंजी से वार्त्तालाप हुआ तब उन्हें अपना भ्रम मालूम हुआ और अनुभव हुआ कि सत महात्माओं का गर्व से कोई सबध नहा। उनके मन का क्षोभ मिट गया। साहित्य-शास्त्र की चर्चा छिडी और खूब रस रग रहा। इस अवसर पर बलभद्र, घनश्याम और घासीराम वहाँ आए हुए थे। ये बलभद्र सभवत केशवदास के बडे भाई और नख शिख के कर्त्ता थ। घनश्याम के विषय मे कहा गया है कि ये नभ के बसिया थे। नहीं कह सकते कि नभ किसी गाँव का नाम था अथवा ये कोई ऐसे चमत्कारी जीव थे कि आकाश में भी विचरण करनेवाले प्रसिद्ध हो गए थे। इसी प्रकार कई अन्य साधु-महात्माओं का, जो गोसाईंजी के दर्शनों के लिये आए थे, बेणीमाधवदास ने उल्लेख किया है, जैसे—यादवप्रकाश, चित्सुखाचार्य, करुणेश (सभवत कर्णाभरण के रचयिता), सदानद, मुरारिदेव, दिगबर परमहस, विरही भगवत, देवी, त्रिभवानंद, दिनेश और कोई पिल्ले जिनके नाम से पता चलता है कि वे दाक्षिणात्य थे।

कुछ दिन पीछे बीजापुर आदिल शाहा राज्य के दानधर्माध्यक्ष ब्राह्मण दत्तात्रेय गोसाईंजी के आश्रम मे आए और उनकी वंदना करके उन्होंने गोसाईंजी से कुछ प्रसाद चाहा। गोसाईंजी ने उन्हे अपने हाथ की लिखी वाल्मीकीय रामायण की प्रति समर्पित की। जान पडता है कि यह वही प्रति है जो गोसाईंजी ने स० १६४१ में काशी में लिखी थी। काशी के सरस्वती-भवन में वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकांड की एक प्रति है जिसकी पुष्पिका में लिखा है—

'इत्यार्षे रामायणे वाल्मीकीये चतुर्विंशतिसाहस्र्यां सहितायां उत्तरकांडे स्वर्गारोहणक नाम सर्ग। शुभमस्तु। समाप्त चेद

वाल्मीकीय रामायण का अंतिम पृष्ठ

महाकाव्य श्री रामायणमिति सवत् १६४१ समये मार्ग सुदि ७ रवौ लि० तुलसीदासेन ।"

बेणीमाधवदास ने भी काशी म लिखी प्रति का यही समय दिया है—

'लिखे बाल्मीकि बहुरि इक्तालिस के माहि ।
मगसिर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि ॥'

ज्योतिष की गणना से भी मार्गशीर्ष सुदी सप्तमी रविवार का ही पडती है। इस प्रति क अत मे भिन्न अक्षरो म यह श्लोक लिखा है—

श्रीमद्देदिलशाहभूमिपसभासभ्येंद्रमूर्धासुर ।
श्रेणीमडनमट्लीपुरिदयान्नादिभाजिप्रभु ॥
वाल्मीके कृतिमुत्तमा पुररिपो पुर्यां पुरोग कृती ।
दत्तात्रेयसमाह्वयो लिपिकृते कम्मरमाचीकरन् ॥

जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि इस प्रति को गोसाईजी न दत्तात्रेय को दिया था। परतु श्लोक स तो ऐसा मालूम होता ह कि गोसाईजी ने लिखा ही इस प्रति को दत्तात्रेय के कहने से था।

सरस्वती भवन का उत्तरकाड अन्य कांडों से अलग कैसे हुआ इसकी भी कथा है। यह कांड अपने भाई और कांडों के सहित नवाबगंज काशी के पडित राधाकांतजी पाडेय क यहाँ कुछ पीढ़ियों से सुरक्षित था। उनके पितामह प्रसिद्ध ज्योतिषी पडित काशीप्रसादजी को रामायण की यह प्रति कहीं ग्वालियर की ओर मिली थी। राधाकांतजी इस प्रति को बहुत सावधानी से रखते थे। एक बार एक सबधी क बडे आग्रह करने पर उन्होंने उसे दे दिया। जब सबधी महोदय ने पुस्तक लौटाई तो उन्होंने बिना देखे उसे रख लिया। पीछे मालूम हुआ कि बालकांड, अयोध्याकाड और उत्तर-कांड के स्थान पर पुस्तक की मोटाई पूरी करने के लिये अखबारों के पन्ने रख दिए गए हैं। शेष चारों काड पडित राधाकांतजी के

पास अब तक वि ्मान हैं। हमे भा इन्हे देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पहले दो कांड कहाँ हैं, नहीं कहा जा सकता है। पांडेयजी का अनुमान है कि चदन चर्चित पटरी के सहित वे किसी युरोपीय पुस्तकालय की शोभा बढा रहे हैं।

पीछे एक पचनामे का उल्लेख किया गया है जिसके अनुसार टोडर के वशजा में सपत्ति का विभाजन हुआ था। इस पचनामे म दो श्लोक और एक दोहा गोसाईजी के हाथ के लिखे कहे जाते हैं। इनकी लिखावट पूर्वोक्त वाल्मीकीय रामायण की लिखावट से अच्छी तरह मेल खाती है जिससे यह निश्चय जान पडता है कि दोनो लिखावटें एक ही व्यक्ति के हाथ की हैं। भेद केवल इतना ही है कि वाल्मीकीय रामायण जमकर लिखी गइ है और पचनामा कुछ शीघ्रता मे। इनको देखन से पता चलता है कि गोसाईजी की लिपि बहुत सुदर और पुष्ट होती थी और वे कुछ लबोतर अक्षर लिखा करते थे। राजापुर, अयोध्या और मलिहाबाद में रामचरितमानस की जो प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं उनके लिये भी कहा जाता है कि वे गोसाईजी के हाथ की लिखी हैं। मलिहाबादवाली प्रति तो किसी दशा म गोसाईजी के हाथ की लिखी नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसम क्षेपक विद्यमान हैं। अन्य दो प्रतियों की लिखावटें भी न ऊपर लिखित प्रामाणिक लिखावटों से मेल खाती हैं और न आपस ही म एक दूसरे से मिलती हैं। उनमे अक्षर लबोतर न होकर कुछ गोल से हैं। इससे वे भी गोसाईजी के हाथ की लिखी नहीं हो सकतीं। पडित विजयानंद त्रिपाठी के एक लेख स पता चलता है कि मिथिला के किसी पडित घराने में कोई चिट्ठी है जो गोसाईजी के हाथ की लिखा कही जाती है। परतु उसे त्रिपाठीजी ने भी नहीं देखा है, अतएव उसके विषय म कुछ भी नहीं कहा जा सकता। और जो हो, इस

रामायण की अयोध्या की प्रति

रामायण की राजापुर की प्रति

विषय में तो संदेह नहीं कि वाल्मीकीय रामायण की यह प्रति गोसाईंजी के हाथ की लिखी है।

यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध जैन संत कवि बनारसीदास से इनकी कई बार भेंट हुई थी। बनारसीदास का संवत् १६५३ के लगभग वर्तमान रहना पाया जाता है। अतएव गोसाईंजी से उनका परिचय होना असंभव नहीं। कहते हैं, गोसाईंजी ने बनारसीदास को रामचरितमानस की एक प्रति दी थी और बनारसीदास ने उनको पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति दी। फिर दूसरी बार की भेंट में प्रसंगवश बनारसीदास ने रामचरित पर निम्नलिखित आध्यात्मिक कविता पढ़ी—

'विराजै रामायण घट माहीं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहीं॥
आतम राम ज्ञान गुन लक्ष्मण, सीता सुमति समेत।
शुभ प्रयोग वानरदल मंडित, वर विवेक रन खेत॥
ध्यान धनुष टंकार सोर सुनि गई विषय दिति भाग।
भई भस्म मिथ्या मत लंका उठी धारना आग॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल लरै निकांछित सूर।
जूझे राग द्वेष सेनापति संसय गढ़ चकचूर॥
बिलखत कुंभकरन भव विभ्रम, पुलकित मन दरियाव।
थकित उदार वीर महिरावन, सेतु-बंध सम भाव॥
मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परनति सेना, छुटे छपक गुन बान॥
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय विभीषन दीन।
फिरै कबंध महीरावन की प्रान भाव सिरहीन॥
इह विधि साधु सकल घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम॥

विषय में तो संदेह नहीं कि वाल्मीकीय रामायण की यह प्रति गोसाईंजी के हाथ की लिखी है।

यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध जैन संत कवि बनारसीदास से इनकी कई बार भेंट हुई थी। बनारसीदास का संवत् १६५३ के लगभग वर्तमान रहना पाया जाता है। अतएव गोसाईंजी से उनका परिचय होना असंभव नहीं। कहते हैं, गोसाईंजी ने बनारसीदास को रामचरितमानस की एक प्रति दी थी और बनारसीदास ने उनको पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति दी। फिर दूसरी बार की भेंट में प्रसंगवश बनारसीदास ने रामचरित पर निम्नलिखित आध्यात्मिक कविता पढ़ी—

'विराजै रामायण घट माहीं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहीं॥
आतम राम ज्ञान गुन लछमण, सीता सुमति समेत।
शुभ प्रयोग बानरदल मंडित, वर विवेक रन खेत॥
ध्यान धनुष टंकार सोर सुनि गई विषय दिति भाग।
भई भस्म मिथ्या मत लंका उठी धारना आग॥
जरे अज्ञान भाव राक्षस कुल लरे निकांछित सूर।
जूझे राग द्वेष सेनापति संसय गढ़ चकचूर॥
बिलखत कुंभकरन भव विभ्रम, पुलकित मन दरियाव।
थकित उदार वीर महिरावन, सेतु-बंध सम भाव॥
मूर्छित मंदोदरी दुरासा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परनति सेना, छुटे छपक गुन बान॥
निरखि सकति गुन चक्र सुदर्शन, उदय बिभीषन दीन।
फिरै कबंध महीरावन की प्रान भाव सिरहीन॥
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहार दृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम॥

करते हैं इसके उत्तर में गोसाईंजी ने भी भक्ति-विरदावली नामक एक स्तोत्र पढ़ा जिसमें उन्होंने पार्श्वनाथ की स्तुति की थी। उसके दो छंद 'बनारसी विलास' के संपादक ने उद्धृत किए हैं जो यहाँ भी दे दिए जाते हैं—

'पद जलज भगवान जू के बसत हैं उर माहिं।
चहुँ गति विहंडन तरनतारन, देख विघन बिलाहिं॥
थकि धरनि पति नहिं पार पावत नर सु बपुरा कौन।
तिहि लसत करना जन पयोधर, भजहिं भवि जन तौन॥
दुति उदित त्रिभुवन मध्य भूषन, जलधि ज्ञान गँभीर।
जिहि भाल ऊपर छत्र सोहत, दहत दोष अधीर॥
जिहि नाथ पारस जुगल पंकज चित्त चरनन जास।
रिधि सिद्धि कमला अजर राजित भजत तुलसीदास॥'

कथानक तो गोसाईंजी की प्रवृत्ति के विरुद्ध नहीं है, किंतु जो छंद गोसाईंजी के कहे गए हैं वे भाषा की दृष्टि से गोसाईंजी के से नहीं लगते। परंतु उनके गोसाईंजी रचित न होने पर भी इन दोनों संतों के परस्पर परिचय और सद्भाव की बात सत्य हो सकती है।

मड़ियाहू के कानूनगो भीष्मसिंह तथा कोई एक भाट काशी वास के लिये आए थे। वेणीमाधवदास ने भाट का नाम नहीं लिखा है। ये दोनों व्यक्ति गोसाईंजी के बड़े भक्त थे। भीष्मसिंह बहुधा उनके दर्शनों के लिये जाया करते थे। भाट ने तो बहुत विनय करके गोसाईंजी के साथ रहने की आज्ञा प्राप्त कर ली थी। भीष्मसिंह गोसाईंजी के रहते ही स्वर्गवासी हो गए थे।

यह बात भी बहुत प्रसिद्ध है कि मुगल बादशाह जहाँगीर गोसाईंजी से मिलने आया था। उस समय गोसाईंजी बहुत बूढ़े हो चले थे। वेणीमाधवदास ने भी इस बात का उल्लेख किया है। उसके अनुसार यह घटना संवत् १६७१ का है। परंतु स्वयं जहाँगीर के

लेख से मालूम होता है कि वह १६६९ से १६७३ तक पूर्व की ओर आया ही नहीं। इस बीच में वह एक वर्ष आगरे और दो वर्ष से कुछ अधिक अजमेर में रहा। यह बात भी नहीं मानी जा सकती कि इस बुढ़ौती में गोसाईंजी ने कोई लंबी यात्रा की हो और वे ही स्वयं जाकर उसे कहीं पश्चिम में मिले हों। इससे सूचित होता है कि यह बात संवत् १६७३ के पीछे की होगी। कहते हैं, जहाँगीर ने इस समय गोसाईंजी का एक चित्र भी खिंचवाया था। जहाँगीर ने इन्हें बहुत कुछ धन धरती भेंट करनी चाही पर इन्होंने स्वीकार न की। इसी अवसर पर बीरबल की वाग्विदग्धता और सभा-चातुरी की भी बादशाह ने चर्चा चलाई। इस पर गोसाईंजी ने खेद प्रकट किया कि इस प्रकार का बुद्धि-वैभव प्राप्त रहने पर भी उसने हरि-भजन नहीं किया, क्योंकि गोसाईंजी का मत था कि परमात्मा हमें साधन-संपन्नता इसी लिये देता है कि उसका परमार्थ में उपयोग किया जाय। वह चतुरता किस काम की जो भगवद्भक्ति की प्रेरणा न करे और वह भी भारत सरीखी तपोभूमि में—

> भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहिकै।
> जो भजै भगवान सयान सोई, तुलसी हठ चातक ज्यों गहिकै॥

---

(१०) गोसाईंजी के चमत्कार

जगत् की मिथ्याप्रियता से महात्माओं का माहात्म्य भी अछूता नहीं बचता। यह माहात्म्य का अभिशाप है कि किसी भी व्यक्ति के प्रसग मे वह शीघ्र ही करामात का पर्याय हो जाता है, अन्यथा जन साधारण को उसमें कोई अर्थ नहीं दीखता। उनके सामने प्रकृति के नियमों का उल्लघन कर असभव को सभव कर दिखलाना ही माहात्म्य है। आत्मानुभूति के महत्त्व को वे जान ही क्या सकते हैं? धर्म भी मिथ्या के ही ससर्ग से जनसाधारण के लिये ग्राह्य होता है। धर्म-प्रवर्तकों को इसी लिये समय समय पर मिथ्या का आश्रय लेना पडा है। धार्मिक मूल तत्त्वो के ग्रथ इसी प्रकार कागज के ऊपर स्याही से लिखे सीधे परमात्मा के पास से आते हैं। देवता उनकी सेवा मे लगे रहते हैं। रोगी उनके स्पर्श से नीरोग होते हैं, मृतक जी उठते हैं, अधे कुएँ भर जाते हैं, और क्या नहा हो जाता। ठग विद्या के द्वारा करामाती प्रसिद्ध हो जानेवाले साधु वास्तविक महात्माओं से साधारणत अधिक पूजा पाते हुए देखे जाते हैं। कभी कभी सद्भावनाओं से प्रेरित होकर मगलमूलक सिद्धांतों के प्रचार की दृष्टि से अपना प्रभाव बढाने के लिये सच्चे महात्माओं को भी करामाती प्रसिद्ध होना पडता है। गँवार को समझाने के लिये गँवारू भाषा का प्रयोग किए बिना निस्तार ही नहीं है। जो लोग स्वय अपने लिये प्रभाव और महत्त्व नहीं चाहते उनके लिये उनके चेले और श्रद्धालु अनुगत यह काम कर दिया करते हैं। गोसाईं तुलसीदासजी ने यद्यपि जहाँगीर से स्वय कहा था कि हमारा करामातों से कोई सबध नहीं है, फिर भी उनके नाम के साथ कई करामातों का सग्रह हो ही गया है।

राम-दर्शन की बात हम अन्यत्र कह आए हैं। हम उसे बिल्कुल निराधार किंवदंती नहीं समझते। उसमें सार क्या है, किस अर्थ में वह सत्य घटना है, यह हम वहीं दिखा आए हैं। दो एक चमत्कारी बातों का और स्थलों पर भी उल्लेख हुआ है। यहाँ पर हम गोसाईंजी के नाम से प्रसिद्ध कुछ अन्य चमत्कारी घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

मूल गोसाईं चरित में लिखा है कि चित्रकूट से अयोध्या जाते हुए गोस्वामीजी प्रयाग में ठहरे। उस समय मकर स्नान का पर्व था। पर्व के छः दिन पीछे उन्होंने देखा कि एक वट के नीचे दो अपूर्व तेजस्वी ऋषि आसन जमाए राम-कथा का रस ले रहे हैं। गोसाईंजी भी वहाँ जाकर बैठ गए और उन्होंने बड़ी नम्रता से उनका नाम पूछा तो मालूम हुआ कि वे याज्ञवल्क्य और भरद्वाज हैं। गोसाईंजी ने उनसे राम-कथा का रहस्य पूछा और याज्ञवल्क्यजी ने वह सारा भेद, जैसे भुशुंडीजी से सुना था तथा जिसे शिवजी ने रचकर पार्वती से कहा था, उन्हें बता दिया। दूसरे दिन फिर सत्संग की अभिलाषा से गोसाईंजी वहाँ गए पर न वहाँ वट वृक्ष दिखाई दिया और न मुनि-द्वय।

इस कहानी का आधार बालकांड के छाछठवें दोहे से आगे का भरद्वाज-याज्ञवल्क्य संवाद है जो इस प्रकार आरंभ होता है—

'एक बार भरि मकर नहाए। सब मुनीस आस्रमन्ह सिधाए॥
जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी॥'

इसी पर वेणीमाधवदास ने यह गढ़त की है। गोसाईंजी जिस पुरानी बात को कह रहे हैं, वेणीमाधवदास ने उसे उन्हीं के जीवन में घटित कर दिया है।

इसी प्रकार—

'सपनेहु साँचेहु मोहि पै जो हरि गौरि पसाव।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाव॥'

इस दोहे पर भी वेणीमाधवदास ने एक कथा बैठा दी है जो इस प्रकार है। प्रयाग से चलकर गोसाईंजी काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने संस्कृत में रचना करना आरंभ किया। दिन में जो कुछ लिखते वह रात्रि को गायब हो जाता। सात दिन तक यही आश्चर्य जनक क्रम रहा। अंत में आठवें दिन महादेवजी ने उन्हें स्वप्न दिया कि अपनी बोली में रचना करो, संस्कृत के पीछे मत मरो। इसी से गोसाईंजी ने बैसवाडी अवधी में रामचरितमानस की रचना की। दोहे के 'सपनेहु' शब्द से इस स्वप्न की उद्भावना हुई है, परंतु दोहे से इस बात की सूचना नहीं मिलती कि सचमुच यह स्वप्न हुआ था।

जब गोसाईंजी ने भाषा में रामायण की रचना की तो काशी के संस्कृताभिमानी पंडित उन पर बहुत रुष्ट हुए। वे रामचरितमानस को प्रामाणिक ग्रंथों की कोटि में रखने को प्रस्तुत न थे। अंत में, कहते हैं, यह निश्चय हुआ कि यदि विश्वनाथजी इसे स्वीकार कर लें तो यह ग्रंथ प्रामाणिक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। तदनुसार रात को रामचरितमानस की एक प्रति विश्वनाथजी के मंदिर में रख दी गई। सवेरे उठकर जब मंदिर के कपाट खोले गए तो उस पर विश्वनाथजी की स्वीकृति लिखी पाई गई।

फिर भी पंडितों को संतोष न हुआ। बहुत इधर उधर करने पर उन्होंने कहा, मान लिया कि तुम्हारा ग्रंथ प्रामाणिक है, परंतु प्रामाणिकता भी कई कोटि की होती है। रामचरितमानस श्रुति, स्मृति, पुराण, काव्य में से किस कोटि में रखा जायगा। इस बार भी विश्वनाथजी निर्णायक नियत हुए। रात को श्रुति, स्मृति और पुराणों के साथ रामचरितमानस की वह प्रति सबके नीचे मंदिर में रखी गई। सबेरे देखा गया कि विश्वनाथजी ने उस सब के ऊपर रख दिया था।

इस दोहे पर भी वेणीमाधवदास ने एक कथा बैठा दी है
इस प्रकार है। प्रयाग से चलकर गोसाईंजी काशी पहुँचे।
उन्होने सस्कृत मे रचना करना आरभ किया। दिन में जो
लिखते वह रात्रि को गायब हो जाता। सात दिन तक यही आ
जनक क्रम रहा। अत मे आठवे दिन महादेवजी ने उन्ह
दिया कि अपनी बोली में रचना करो, सस्कृत के पीछे मत
इसी से गोसाईंजी ने बैसवाडी अवधी में रामचरितमानर
रचना की। दोहे के 'सपनेहु' शब्द से इस स्वप्न की उद्भाव
है, परतु दोहे से इस बात की सूचना नहीं मिलती कि सच्
स्वप्न हुआ था।

जब गोसाईंजी ने भाषा मे रामायण की रचना की तो क
सस्कृताभिमानी पडित उन पर बहुत रुष्ट हुए। वे रामचरि
को प्रामाणिक ग्रथो की कोटि म रखने को प्रस्तुत न थे।
कहते हैं, यह निश्चय हुआ कि यदि विश्वनाथजी इसे स्वीकार
तो यह ग्रथ प्रामाणिक माना जा सकता है, अन्यथा नहीं।
रात को रामचरितमानस की एक प्रति विश्वनाथजी के
रख दी गई। सवेरे उठकर जब मदिर के कपाट खोले गए
पर विश्वनाथजी की स्वीकृति लिखी पाई गई।

फिर भी पडितो को सतोष न हुआ। बहुत इधर-
पर उन्होंने कहा, मान लिया कि तुम्हारा ग्रथ प्रामाणिक
प्रामाणिकता भी कई कोटि की होती है। रामचरितम
स्मृति, पुराण, काव्य म से किस कोटि म रखा जायगा।
भी विश्वनाथजी निर्णायक नियत हुए। रात को श्रुति,
पुराणों के साथ रामचरितमानस की वह प्रति सबके
में रखी गइ। सबेरे देखा गया कि विश्वनाथजी ने
ऊपर रख दिया था।

आखिर गई कहाँ ? इसके लिये भी जवाब तैयार है। कहते हैं कि टोडरमल के यहाँ यह प्रति चाँदी की मंजूषा में रखी रहती थी। इसकी नित्यप्रति पूजा हुआ करती थी और बडी खबरदारी रखी जाती थी, क्योंकि गोसाईंजी ने पुस्तक के साथ साथ यह भी कहला भेजा था कि यदि यह तुम्हारे यहाँ से और किसी के घर जायगी तो इस लोक से लुप्त हो जायगी। कइ पीढियो के पीछे टोडर के वंश में अनतमल हुए। यही कुल के प्रधान थे। इनकी परम प्रिय कन्या इस प्रति से बडा प्रेम रखती थी, उसकी वह नित्यप्रति पूजा किया करती थी। जब इसका विवाह हुआ तो ससुराल चलते समय इसने वह प्रति चुपके से अपनी डाली में रख ली। ज्योंही वह अपने पति के घर में उतरी त्योंही वह प्रति लुप्त हो गई और उस कन्या ने भी उसके वियोग में प्राण त्याग दिए। इस प्रकार खरहे के दोनों सींग लुप्त हो गए। उनके लोप होते देर ही क्या लगती है।

जब चोरी की भी योजना सफल न हुई तब तन्त्र-मन्त्र की सहायता ली गई। बटेश्वर तांत्रिक काशी में बहुत प्रसिद्ध था। उसने अपने मन्त्र बल से गोसाईंजी की हत्या के लिये भैरवजी को प्रेरित किया। पर वहाँ बजरगबली उनकी रक्षा के लिये पहले ही से प्रस्तुत थे। विफल होकर काशी के कोतवाल ने अपना क्रोध बटेश्वर पर ही उतारा और उसके प्राणों की हानि हुई।

इस समय बगाल के पडित रविदत्त शास्त्री काशी आए हुए थे। पडितो ने इस क्रोधी ब्राह्मण को गोसाईंजी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये उसकाया। हारकर यह उन्हें लट्ठ से मारने का मनसूबा कर दौडा। पर हनुमानजी का चौकसा पर देख भयभीत हुआ। तब चालाकी से काम निकालने की ठहराइ गई। रविदत्त ने गोसाईंजी को, बहुत अनुनय विनय करके, प्रसन्न किया और वरदान माँगा।

तुलसीदासजी ने जब वरदान देना स्वीकार किया तब उसने कहा कि आप काशी से अन्यत्र चले जाइए। गोसाईंजी क्या करते ?

'देवसरि सेवे बामदेव गाँव रावरे ही
नाम राम ही के माँगि उदर भरत हैं।
दीबे जोग 'तुलसी' न लेत काहू की कछुक
लिखी न भलाइ भाल पोचन करत हैं॥
एते पर हू जो कोउ रावरे ह्वै जोर करे
ताको जोर देव दीन द्वारे गुदरत हैं।
पाइकै उराहनो उराहनो न दीजै मोहि
काल-कला कासीनाथ कहि निवरत हैं॥

विश्वनाथजी की यह प्रार्थना कर वे चल दिए। शिवजी ने इधर गोसाईंजी को दर्शन देकर समझाया कि आप न जाइए उधर काशी-वालों को भयभीत किया कि जाओ तुलसीदास को मना लाओ। यदि वह यहाँ से गया तो तुम्हारी कुशल नहीं है। टोडरमल सबको साथ लिए चले और गोसाईंजी को मना लाए, अस्सी घाट पर उसने उन्हें वास दिया। हमारा अनुमान है कि रविदत्त शास्त्री वाली बात सर्वथा कल्पित है। यह उस समय की जान पड़ती है जिस समय गोसाइयों के साथ बिगाड़ हो जाने के कारण गोसाईंजी गोपाल मंदिर छोड़ रहे थे। संभवतः उस समय उन्होंने काशी ही छोड़ने का विचार किया हो।

कहते हैं ब्रज में नाभाजी तथा अन्य वैष्णवों के साथ वे ब्रज-भूमि के देवस्थानों के दर्शनों के लिये गए तो उन्हें सर्वत्र कृष्ण के संबंध के मंदिर अथवा स्थान देखने को मिले। जिसके मुँह से सुना कृष्ण ही का यश सुना। किसी ने उनसे राम को कृष्ण से नीचा दिखाते हुए यहाँ तक कह दिया कि राम सोलह कला के ही

अवतार हैं जब कि कृष्ण चौसठ कला-युक्त पूर्णावतार हैं। इस पर प्रियादासजी ने गोसाईंजी से कहलाया है—

'दसरथ सुत जानौं सुदर अनूप मानौं ईसता बताई रति कोटि गुनी जागी है।'

नीचे लिखा दोहा भी किसी ऐसे ही प्रसग का ज्ञान पडता है—

'जै जगदीस तौ अति भलो जै महीस तौ भाग।
जनम जनम तुलसी चहत राम चरन अनुराग॥'

वैसे तो ये राम और कृष्ण को एक मानते थे, क्योंकि दोनो एक ही विष्णु के अवतार थे। कृष्ण और राम दोनों के यशगान में इन्होने कविता की है और एक की प्रशंसा करते हुए उस पर दूसरे के चरित का आरोप किया है। परतु व्रज म राम का सर्वथा बहिष्कार सा देखकर इन्हे बडा दुख हुआ। इसी से उन्होंने कहा था—

'राधा कृष्ण सबै कहैं, आक ढाक अरु कैर।
तुलसी या व्रज मों कहा, सिया राम सों बैर॥'

जब वैष्णव मडली के साथ गोसाईंजी गोपाल मदिर म पहुँचे तब उनके हृदय मे यह खेद बना हुआ था। इसी से, कहते हैं, कृष्ण भगवान् ने मुरली के स्थान पर धनुर्बाण हाथ मे लेकर गोसाईंजी को दर्शन दिए और गोसाईंजी का खेद तथा कृष्ण-भक्तों का मोह मिटाया। इस पर गोसाईंजी ने कहा—

'मुरली मुकुट दुराइ कै, धरयौ धनुष सर हाथ।
तुलसी लखि रुचि दास की, नाथ भए रघुनाथ॥'

कोई कोई यह भी कहते हैं कि गोसाईंजी ने गोपाल मदिर म जाकर नीचे लिखा दोहा पढा था जिसके उत्तर में भगवान् ने कृष्ण रूप छोडकर रामरूप ग्रहण किया था—

'कहा कहौं छबि आज की, भले बने हौ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥'

परंतु गोसाईंजी ऐसी उद्दंड प्रकृति के मनुष्य न थे कि भगवान् के सामने ऐसी गर्वोक्ति करते और न यह उक्ति उनकी किसी रचना में ही मिलती है। इस घटना पर जब लोगों ने आश्चर्य प्रकट किया तब गोसाईंजी ने कहा इसमें आश्चर्य क्या है—

'प्रभु सत्य करी प्रह्लाद गिरा प्रगटे नर केहरि खंभ महाँ।
ग्राहराज ग्रस्यो गजराज कृपा तत्काल विलंब किए न तहाँ॥
सुर साखी दै राखी है पांडु बधू पट लूटत कोटिन भूप जहाँ।
तुलसी भजु सोच विमोचन को जन को प्रण राखो न राम कहाँ ?'

यह घटना संतों में अत्यंत प्रसिद्ध है। महाराष्ट्र कवि मोरो पंत ने भी इस घटना का उल्लेख किया है—

'श्रीकृष्णमूर्ति जेथें केली श्रीराममूर्ति सज्जन हो।
रामसुत मयूर म्हणे त्याचा सुयशोमृतांत मज्जन हो॥'

यह घटना इतनी मनोरम है कि हमारी मनोवृत्ति के अनुसार इसके असंभव होने पर भी हम इसकी ममता नहीं त्याग सकते और न इसे असत्य कहने की हमारी प्रवृत्ति ही होती है।

ब्रज में जिस अभाव का गोसाईंजी अनुभव कर रहे थे उसकी पूर्ति के लिये उन्होंने एक और चमत्कार किया। दक्षिण से कुछ लोग रामचंद्र की एक मूर्ति अयोध्या में स्थापित करने के लिये ले जा रहे थे। ब्रज में यमुना-तट पर उन्होंने विश्राम किया। एक बड़ा भक्त ब्राह्मण उस मूर्ति को देखकर मोहित हो गया। वेणीमाधवदास ने इस ब्राह्मण का नाम उदय बताया है। नवलकिशोर प्रेस के संस्करण-वाले अनुवाद में पंडित रामकिशोर शुक्ल ने उसे उदयप्रकाश कर दिया है। उसकी इच्छा हुई कि वह मूर्ति वहीं स्थापित हो जाय तो बहुत अच्छा हो। उसने गोसाईंजी से अपना अभिलाष कहा। यह बात उनको बहुत पसंद आई। उनकी करामात से वह मूर्ति वहाँ पर अचल स्थिर हो गई। किसी के किए वह उस स्थान से

हिली डुली नहीं। अंत को हारकर उस मूर्ति को वहीं स्थापित कर देना पड़ा। गोसाईंजी की सम्मति से यशोदानंदन के अनुकरण पर उस मूर्ति का नाम कौशल्यानंदन रखा गया। व्रज में यह देवस्थान अब तक बतलाया जाता है। इस प्रकार कृष्णभूमि में राम मूर्ति का अभाव दूर हुआ। लाला शिवनंदनसहाय के साथ हमारा तो अनुमान है कि गोस्वामीजी ने स्वयं इस मूर्ति की स्थापना की। इसके अतिरिक्त शेष सब कथा कल्पित है।

व्रज में गोसाईंजी ने एक और चमत्कार दिखलाया। महात्मा हितहरिवंशजी के पुत्र गोपीनाथजी ने गोसाईंजी को भोजन के लिये अमनिया भेजा। गोसाईंजी ने उसे यह कहकर लौटा दिया कि यह अमनिया नहीं सखरा है। गोपीनाथजी स्वयं दौड़े आए और निवेदन किया कि महाराज मैंने तो अभी हलवाई की दुकान से मँगाया है, आप विश्वास कीजिए, यह अमनिया ही है। गोसाईंजी ने कहा चलिए हम आपको बता दें कि यह सखरा है। दुकानों पर जाकर गोपीनाथजी ने देखा कि सचमुच बालक कृष्ण सब पदार्थों को जूठा कर रहे हैं। सब चीजें भगवान् की अच्छी अवश्य हैं, पर जैसे मनुष्य भोजन करता है वैसे ही भगवान् भी करते हैं इसे चमत्कार प्रियता ही कह सकते हैं।

कहते हैं, एक बार एक हत्यारा राम नाम लेता हुआ आत्मग्लानि का मारा सब पर अपना अपराध प्रकट करता भीख माँगता फिरता था। वह गोसाईंजी के आश्रम पर भी गया। गोसाईंजी ने उसका हार्दिक पश्चात्ताप तथा शुद्ध राम-भक्ति देखी तो उसे उन्होंने अपने पास बुला लिया और यह देखकर कि आत्मग्लानि और राम नाम ने उसे शुद्ध कर दिया है उसके साथ बैठकर भगवान् का भोग लगाया। पंडितों ने देखा कि हमारी व्यवस्था उलटी जाती है तो वे हा हल्ला करने लगे। उन्होंने गोसाईंजी से जाकर पूछा कि

इसने प्रायश्चित्त तो किया ही नहीं है, आपने इसे शुद्ध कैसे मान लिया। गोसाईंजी ने सरल भाव से कहा कि राम नाम का प्रभाव ही ऐसा है। पंडितों ने कहा कि राम नाम का माहात्म्य तो बहुत कहा गया है, इसमें संदेह नहीं किंतु इस बात का क्या प्रमाण कि यह वास्तव में शुद्ध हो गया है। आप सामान्य व्यवस्था के विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। इसलिये प्रमाण की आवश्यकता होती है। गोसाईंजी ने कहा, जो परीक्षा तुम लोग चाहो कर देखो। पंडितों ने यह निश्चय किया कि यदि शिवजी का नंदी इसके हाथ का प्रसाद पावे तो यह शुद्ध माना जा सकता है अन्यथा नहीं। पंडित लोग तो जानते थे कि पत्थर का नंदी परमात्मा के हाथ से भी प्रसाद नहीं पायगा तब हत्यारे की बात क्या। परंतु उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि गोसाईंजी के कहने से नंदी ने हत्यारे का दिया प्रसाद पाया। इस पर कुछ कहना व्यर्थ है।

गोसाईंजी के दर्शन, उपदेश और उपकरण से कुछ प्रेतात्माओं के मुक्त हो जाने की भी किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। वेणीमाधवदास ने योगश्री मुनि, नैमिषारण्य के प्रेत और केशवदास इन तीन प्रेतों के उद्धार की बात कही है। योगश्री मुनि का उद्धार चित्रकूट के पास हुआ था। एक बार गोसाईंजी कामद वन की परिक्रमा कर सोमित्रि पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्हें एक बहुत सुंदर साँप दिखाई दिया। यहा योगश्री मुनि थे जो शाप-वश सर्प हो गए थे। गोसाईंजी की दृष्टि पड़ते ही उसके पाप धुल गए। योगश्री ने गोसाईंजी से प्रार्थना की कि मुझे स्पर्श कीजिए जिससे मेरा उद्धार हो। स्पर्श करते ही साँप लोप हो गया और योगश्री मुनि ने प्रकट होकर प्रणाम किया। अधिक से अधिक इसमें यही तथ्य हो सकता है कि गोसाईंजी ने वहाँ कोई साँप मारा हो।

नैमिषारण्य के प्रेत के उद्धार की कथा का अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। केशवदास ओड़छा के राजा इन्द्रजीतसिंह के दरबारी कवि थे। उसके दरबार मे सब बड़े धुरधर पंडित और कवि थे। राजा को यह सोच सोचकर बड़ा खेद होता था कि एक न एक दिन रत्नों की यह अवलि छिन्न भिन्न हो जायगी। किसी ने उन्हें यह उपाय बताया कि यदि प्रेत-यज्ञ किया जाय तो प्रेत-योनि म सब के सब एक साथ रह सकेंगे। इस बात को मानकर उन्होंने एक प्रेत-यज्ञ किया जिसमे सारी विद्वन्मडली जलकर प्रेत हो गई। कहते हैं एक बार गोसाईंजी ओड़छे गए तो केशवदासजी पेड़ पर से चिल्लाने लगे कि महाराज हमारा प्रेत योनि से उद्धार कीजिए। कोई कहते हैं कि केशवदासजी एक कुएँ म रहते थे। सयोगवश गोसाईंजी लोटा डोरी लेकर उसी कुएँ पर पानी लेने के लिये गए। केशवदास ने कुएँ में ही लोटा पकड़ लिया और कहा कि मेरा उद्धार करो नहीं तो छोड़ूँगा नहीं। गोसाईंजी ने कहा अपनी रामचद्रिका २१ बार कह जाओ तो तुम्हारी मुक्ति हो। केशवदास ने कहा रामचद्रिका तो मुझे सपूर्ण मुखाग्र है परतु पहले छद का पहला अक्षर नहीं आता है। गोसाईंजी ने उन्ह वह स्मरण दिला दिया और २१ बार रामचद्रिका को दुहराकर वे मुक्त हो गए।

वेणीमाधवदास के अनुसार सवत् १६६९ से पहले दिल्ली जाते समय यह घटना हो चुकी थी। परतु केशवदासजी की मृत्यु सवत् १६७५ में मानी जाता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि १६६९ में वे जीवित थे। इस सवत् में उन्होंने जहाँगीर-जस-चद्रिका की रचना की थी—

'सोरह सै उनहत्तरा माधव मास विचार।
जहांगीर जसचद्र की करी च द्रिका चार॥'

यदि यह घटना सत्य है तो इसे १६७५ क पीछे की होना चाहिए।

परंतु इतनी जीर्ण अवस्था मे गोसाईंजी ने ओड़छे की यात्रा की होगी, यह ग्राह्य नहीं है। अतएव इस किंवदंती मे यदि कुछ सार दीख पडता है तो वह यही कि गोसाईंजी के रहते ही केशवदास इहलोकलीला संवरण कर चुके थे। इसी एक बात पर सब अनुमान बैठाए गए हैं।

परंतु जिस प्रेत ने गोसाईंजी को रामदर्शन का उपाय बतला कर उनका इतना उपकार किया था उसका भी गोसाईंजी ने उद्धार किया या नहीं, यह ज्ञात नहीं। इधर तुलसी-चरित नामक बृहत् ग्रंथ के विषय मे कहा जाता है कि गोसाईंजी उस प्रेत पर तीन सौ वर्ष तक इसकी रक्षा का भार सौंप गए थे। उपकार का बडा अच्छा बदला हुआ!

एक बार एक बहुत दरिद्र ब्राह्मण को दारिद्र्य के कष्ट से दुखी होकर आत्महत्या के लिये उद्यत देख गोसाईंजी ने उसे पहले तो द्रव्य के बहुत अवगुण बताए, परंतु जब वह किसी तरह न माना तब मंदाकिनी से प्रार्थना कर उन्होंने दरिद्र-मोचन शिला प्रकट करवा दी, जिससे उस ब्राह्मण का कष्ट निवारण हुआ। चित्रकूट मे रामघाट पर जहाँ यह घटना हुई थी उसका नाम अब तक दरिद्रमोचन है।

इसी प्रकार काशी मे भी गोसाईंजी ने एक और ब्राह्मण की सहायता के लिये गंगाजी से प्रार्थना कर गंगा पार कुछ भूमि छुड़वा दी। वेणीमाधवदास ने इस ब्राह्मण का नाम हरिदत्त लिखा है। लाला शिवनंदनसहाय का अनुमान है कि दरियाई भूमि को गोसाईंजी के कहने से किसी सरकारी अधिकारी ने ही उस ब्राह्मण को दे दिया होगा। यही बहुत संभव जान पडता है।

एक बार एक तांत्रिक यात्रा पर गया हुआ था। घर से उसकी स्त्री को एक बैरागी ले भागा। तांत्रिक को यक्षिणी सिद्ध थी।

जब उसको घर आकर यह दुर्घटना विदित हुई तब उसने बादशाह को पकड मँगाया और हुक्म जारी करवा दिया कि चाहे जिसके गले मे माला मिले, वह उतार ली जाय और चाहे जिसके माथे पर तिलक हो, वह मिटा दिया जाय। काशी के वैरागियो में हाहाकार मच गया। उन्होंने गोसाईंजी से जाकर विनय की। गोसाईंजी ने उन्हें धैर्य बँधाया। गोसाईंजी के चमत्कार से राज-दूतो को जहाँ तहाँ भयकर काल-रूप दिखाई दिया। डर के मारे सब भाग गए। जिन लोगों क गले से कठा माला उतरी थी उनके गले म वे आपसे आप पहुँच गई और उनके माथे पर तिलक भी ज्यों के त्यो हो गए। हो सकता हे कि शाही अत्याचार की बात सच्ची हो और तात्रिक का भाग उसमे गढत। जहाँगीर जब गद्दी पर बैठा था तब काशी मे उसकी आज्ञा से कुछ उपद्रव हुआ था। सभवत गोसाईंजी के समझाने से अधिकारियों ने यह अत्याचार बद किया हो, जिससे चमत्कार के लिये आधार मिला हो।

यह बात प्रसिद्ध है कि गोसाईंजी ने किसी सद्य विधवा स्त्री के पति को फिर से जिला दिया था। वेणीमाधवदास ने ऐसी दो घटनाओं का उल्लेख किया है और इस सबध म कम से कम पाँच मृतको को गोसाईंजी के हाथ से जीवन-दान कराया है। एक घटना उस समय की बताई गई है जब गोसाईंजी जनकपुर की यात्रा को जा रहे थे। मार्ग म वे हसपुरा में ठहरे थे। यहाँ परसी नाम की एक स्त्री का पति उसी दिन मरा था। गोसाईंजी ने उसे जिला दिया। किस प्रकार, यह लिखा नहा है। दूसरी घटना दिल्ली से लौट आने के बहुत दिन पीछे की है। काशी मे भुलई साहु नाम का एक कलवार था। वह साधु सतों की निदा किया करता था। परतु शायद इसकी स्त्री स्वाभाविक ही साधु सतों पर

निष्ठा रखती थी। एक दिन मुलई साहु मर गया और लोग उसे टिकठी पर रख फूँकने ले चले। कुछ दूर पीछे पीछे उसकी स्त्री भी रोती कलपती चली। रास्ते में उसे गोसाईंजी मिले। उसने उन्हें नम्रता पूर्वक प्रणाम किया। गोसाईंजी को वस्तुस्थिति की जानकारी तो थी नहीं, साधारण ढंग से उसे सौभाग्य-वृद्धि का आशीर्वाद दे बैठे। उसने कहा महाराज आपका वचन तो झूठा हुआ चाहता है। मेरा पति मर गया है और अभी अभी लोग उसे जलाने के लिये ले गए हैं। गोसाईंजी ने शव को वापिस मँगवाया और चरणामृत देकर उसे जीवित कर दिया।

इस घटना के उपरांत गोसाईंजी ने बाहर निकलना ही छोड़ दिया, क्योंकि इससे उन्हें असंभव घटनाओं को संभव करने के लिये अपने इष्टदेव को कष्ट देना पड़ता था। केवल अपने तीन भक्तों को दर्शन देने के लिये वे बाहर निकलते थे। वेणीमाधवदास ने इनके नाम और निवासस्थान भी बतलाए हैं। हृषीकेश मणिकर्णिका घाट पर रहता था, शांतिपद विश्वनाथजी के और दातादीन अन्नपूर्णा के मंदिर में। गोसाईंजी का दर्शन करके भगवान् के चरणामृत पाकर घर जाना, यह उनका नित्य का नियम था। इसी से गोसाईंजी को इनकी टेक का निर्वाह करना पड़ा। परंतु लोगों ने इससे गोसाईंजी पर पक्षपात का दोषारोपण किया। गोसाईंजी ने उनकी भक्ति दिखलाने के उद्देश्य से एक दिन उन्हें भी दर्शन न दिया। फल यह हुआ कि वे दरवाजे पर तड़पकर मर गए। तब लोगों को उनमें और अपने में भेद मालूम हुआ। गोसाईंजी ने तीनों को चरणामृत देकर जीवित कर दिया। कभी कभी ऐसा हो जाता है कि वस्तुतः मनुष्य की मृत्यु नहीं होती है परंतु बाहरी लक्षणों से लोग उसे मरा हुआ समझते हैं और उसकी अंत्येष्टि क्रिया के लिये उपक्रम करने लगते हैं परंतु इतने में उसमें

चेतनता आ जाती है। सभवत ऐसी ही कोई बात हुई होगी जिसका गोसाईंजी से उनके श्रद्धालु भक्तों की कृपा से आगे चलकर सबध हो गया हो। स्थान और काल के अनिश्चय के कारण फिर दती ने कई रूप पकडे होंगे और अत मे मूल चरितकार ने दो अलग अलग घटनाओ के रूप मे उसे स्वीकार कर लिया। इसमें तो सदेह नहीं कि तीन बटुओं की बात तो अतिशयोक्ति मात्र है, जिसका उद्देश्य केवल यह दिखलाना है कि गोसाईंजी पर लोगों की कितनी श्रद्धा भक्ति थी।

इसी प्रकार महाराज रघुराजसिह ने गोसाईंजी के एक ब्राह्मण के बालक को हनुमानजी के द्वारा यमपुर से लौटा मँगवाने की बात लिखी है।

कहते हैं, एक दिन गोसाईंजी जाडे की ऋतु मे गगा-स्नान करके छाती तक पानी मे खडे जप कर रहे थे। इसी समय दुशाले से शरीर को खूब लपेटकर एक वेश्या पास से होकर निकली। उसकी दृष्टि जब गोसाईंजी पर पडी तो वह आश्चर्य चकित होकर ठहर गई। अपनी दशा की उस तपस्वी की दशा से तुलना करती हुई वह बहुत समय तक वहाँ खडी रही। ध्यान से निवृत्त होकर गोसाईंजी तट पर आए और अपने वस्त्रा पर गगाजल छिडकने लगे। एक-दो बूँदें उस वेश्या के शरीर पर भी पड गई। जिस पवित्र भाव से गोसाईंजी पानी छिडक रहे थे उन बूँदों के साथ उस भाव का भी प्रभाव उसके मन पर पडा। उसके मन मे निर्वेद जागरित हो गया। उसे अपने काम पर ग्लानि होने लगी। गोसाईंजी से उपदेश ग्रहण कर वह हरिभजन में मग्न रहने लगी। यद्यपि उस वेश्या का नाम हमें मालूम नहीं है और यह घटना किसी भावुक श्रद्धालु की कल्पना भी हो सकती है, परतु इस घटना मे असभावना कुछ भी नहीं है। सच्चे तपश्चरण का प्रभाव हो ऐसा पारगामी होता है।

अनन्यता और प्रभविष्णुता साथ साथ चलती हैं। जिस भक्ति मे प्रभविष्णुता न हो वह ढोंग है। और यह कहना कि दो बूँद पानी मे सहसा ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता है, यह दूसरे प्रकार का ढोंग होगा।

हम अन्यत्र कह आए हैं कि नैमिषारण्य को जाते हुए मार्ग मे रामपुर मे गोसाईंजी ने एक वृक्ष लगाया था जिसका उन्होंने वंशीवट नाम रखा था। किंवदंती है कि गोसाईंजी ने एक सूखी टहनी पृथ्वी मे गाड दी थी। उसी ने जडें ले लीं और यथासमय हरी-भरी होकर वह वंशीवट कहलाई।

इन करामातों की कथा जहाँगीर बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने गोसाईंजी को दिल्ली आने का निमंत्रण दिया। रहते तो बादशाह अधिकतर आगरे और सीकरी मे थे। सीकरी ही मे उसका जन्म भी हुआ था, परंतु समय समय पर वह दिल्ली आया जाया करते थे। स्वामीजी निमंत्रण स्वीकार करके चले, मार्ग मे चरखारी मे ठहरे।

चरखारी के ठाकुर पर एक बडी आपत्ति आई हुई थी। उसकी एक अत्यंत रूपवती कन्या थी, जिसका एक कन्या ही से विवाह हो गया था। वर की माता ने कन्या के जन्म लेते ही यह प्रसिद्ध करा दिया था कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। यह बात बहुत छिपाकर रखी गई थी। अगर कभी कोई इस बात को जान भी जाता तो द्रव्य से उसकी पूजा हो जाती थी। इसी से यह भेद खुलने न पाया और यह अनहोनी बात हुई। जब विवाह हो गया तब बात खुली और चरखारी मे शोक छा गया। इसी अवसर पर गोसाईंजी वहाँ पहुँचे। ठाकुर और अन्य लोगों ने गोसाईंजी को घेरा और वे करुण विनती करते हुए उनके चरणों मे जा गिरे। उन्होंने प्रार्थना की कि कोई ऐसा उपाय बतलाइए जिससे इस विषम अवस्था से

शास्त्र-मर्यादा का व्यतिक्रम न करते हुए उद्धार हो जाय। गोसाईंजी को दया आई और नौ दिन चरवारी में रहकर उन्होंने रामचरितमानस का पाठ किया जिससे, कहते हैं, ठाकुर की लड़की का नारी-पति पुरुष हो गया। उसी दिन से शायद रामचरितमानस के नवाह्निक पाठ की महिमा मानी जाने लगी। आजकल मानस के कई संस्करणों में नवाह्निक के स्थल भी प्रदर्शित किए मिलते हैं। किस किस स्थल पर गोसाईंजी ने इस नौ दिन के पाठ में विश्राम किया था उनका वेणीमाधवदास ने भी निर्देश किया है। अंत की चौपाइयों के आरंभिक अक्षर ये हैं—

(१) हिय, (२) सत, (३) कीन्ह, (४) श्याम, (५) रामशैल, (६) हारिपगा, (७) कह मारुत-सुत, (८) जहँ तहँ, (९) पुण्य।

यह सत्य घटना है अथवा मनगढ़त, यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। नारी से पुरुष हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि कभी कभी पुरुषत्व के चिह्न छिपे रहते हैं। घटना विशेष से अवसर पाकर वे फिर प्रकट हो जाते हैं। समाचार-पत्रों में भी समय समय पर ऐसी घटनाओं के समाचार छपा करते हैं। मेढकों पर प्रयोग करके वैज्ञानिकों ने यह भी दिखा दिया है कि वैज्ञानिक विधानों से भी जान बूझकर वर्ग परिवर्तन कर दिया जा सकता है। अतएव यह असंभव नहीं कि चरवारी के ठाकुर का जामाता पहले स्त्री-रूप रहा हो और फिर पुरुष हो गया हो। परंतु तुलसीदासजी के नवाह्निक पाठ से ऐसा हुआ था, यह मानने में हमें संकोच होता है। भक्ति के प्रभाव से हृदय में परिवर्तन हो सकता है, लोगों के वर्ग में नहीं। संभव है, यह घटना वस्तुतः घटी हो और आगे चलकर लोगों ने गोसाईंजी से इसका संबंध जोड़ दिया हो। इस घटना के समर्थन में गोसाईंजी के दो दोहे उपस्थित किए जाते हैं—

'कबहुँक दरशन संत के पारस मनी श्रतीत।
नारी पलट सो नर भयो लेत प्रसादी सीत॥
तुलसी रघुबर सेवतहि मिटिगो कालोकाल।
नारी पलट सो नर भयो ऐसो दीनदयाल॥'

परतु हमारी समझ मे इन दोहों से गोसाईंजी का श्रौर ही अभिप्राय है जिसे हमने उनके वास्तविक सिद्धातों के अतर्गत स्पष्ट किया है।

चरखारी से गोसाईंजी आगे बढ़े श्रौर पाँचवे दिन दिल्ली पहुँचे। बादशाह को जब खबर हुई तब उसने बडे आदर से दरबार मे ले आने के लिये अपने आदमी भेजे। दरबार मे पहुँचने पर बादशाह ने उनकी बडी आवभगत की, अनतर कुछ चमत्कार दिखलाने की प्रार्थना की। गोसाईंजी ने बडे नम्र भाव से कहा, हमारे ता एक राम नाम आधार है। उसके अतिरिक्त हम कुछ श्रौर नहीं जानते, करामात से हमारा कोई सबध ही नहीं। परतु बादशाह इस पर बहुत क्रुद्ध हो गया। उनकी नम्रता की प्रशंसा करने के बदले उसने उनको कारागृह मे बद कर दिया श्रौर कहा कि जब तक कोई करामात न दिखाश्रोगे, छूटने न पाश्रोगे।

कहते हैं, इस समय गोसाईंजी ने हनुमानजी की स्तुति मे निम्नलिखित पद श्रौर कवित्त बनाए—

'कानन भूधर बारि बयारि दवा विष ज्वाल महा अरि घेरे।
संकट कोटि परो तुलसी तहँ मातु पिता सुत बंधु न नेरे॥
राखहि राम कृपा करिकै हनुमान से पायक है जिन केरे।
नाक रसातल भूतल मे रघुनायक एक सहायक मेरे॥
तोहि न ऐसी बूझिए हनुमान हठीले।
साहेब काहु न राम से तुम सा न वसीले॥
तेरे देखत सिंह के सुत मेढक लीले।
जानत हूँ कलि तेरेउ मनो गुनगन कीले॥

हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले।
सो बल गयो कि भए अब कुछ गर्व गहीले॥
सेवक को परदा फटे तू समरथ सीले।
अधिक आपु तें आपु में सनमान सहीले॥
साँसति तुलसीदास की देखि सुजस तुही ले।
तिहूँ काल तिन को भलो जो राम रँगीले॥'

यह प्रार्थना सुनकर हनुमानजी ने अपने बदरो को बुलाकर बादशाह को पाठ पढाने भेजा। बदरों ने कोट का विध्वस करना आरभ कर दिया। बादशाह की भी दुर्गति की। बेगमों के वस्त्र फाड डाले। बादशाह को त्राहि त्राहि करते हुए गोसाईंजी के चरणों मे पडना ही सूझा। फिर गोसाईंजी ने उत्पात बद करने के लिये हनुमानजी की प्रार्थना की। कहते हैं, गोसाईंजी ने उस समय यह पद कहा—

'अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी।
इनको बिलगु न मानिए बोलहि न बिचारी॥
लोक रीति देखी सुनी व्याकुल नर नारी।
अति वरसे अनबरसहु दहि दैवहि गारी॥
ना कहि आए नाथ सों भई साँसति भारी।
वरि आए, कीबी छमा निज आर निहारी॥
समय साँकरे सुमिरिए समरथ हितकारी।
सो सब विधि दाया करै अपराध बिसारी॥
बिगरी सेवक की सदा साहेब ही सुधारी।
तुलसी पै तेरी कृपा निरुपाधि निहारी॥'

तब बदरों का उपद्रव कम हुआ। बादशाह के जी म जी आया। गोसाईंजी न बादशाह को उपदेश दिया कि इस कोट को छोड दो, क्योंकि इसम अब हनुमानजी का धाम हो गया है, और अपने

लिये नया कोट बनाओ। बादशाह ने उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर ऐसा ही किया।

प्रियादासजी ने भी यह कहानी लिखी है और कहा है कि अब तक इस कोट में कोई नहा रहता। स्वयं गोसाईंजी ने एक स्थल पर हनुमानजी को 'बंदिछोर' कहकर स्मरण किया है—

'बंदिछोर बिरदावली निगमागम गाई।
नाको तुलसीदास को तेरिए निकाई॥'

इससे ज्ञात होता है कि गोसाईंजी कहीं कैद हुए थे और वहाँ स अपने छुटकारे का कारण वे हनुमानजी की दया मानते थे। अथवा, किसी अन्य व्यक्ति का कारागृह से छुटकारा वे हनुमानजी की कृपा से मानते थे। चुनारगढ के राजा को उन्होंने बादशाह के बंदित्व से छुडवाया था, यह प्रसिद्ध ही है। हो सकता है कि जहाँगीर ने इन्हे बुलाया हो और कुछ दिन कैद रखा हो। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बात असभव नहा, क्योंकि गोसाईंजी बहुत समय तक जहाँगीर के समसामयिक रहे। जहाँगीरनामा मे इस बात का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। कदाचित् जहाँगीर इसे अपने लिये कलक की बात समझता हो कि मैंने व्यर्थ ही एक साधु को सताया। इससे उसका अपने ग्रथ मे उल्लेख न होने दिया हो। जो हो, पर बदरों के उत्पात की कथा किंवदती ही जान पडती है। ऐसा सभव जान पडता है कि दिल्ली के नए किले के बनने पर पुराने किले मे बदरों के डेरा डालने और कोट तहस-नहस कर देने मे ही यह बात प्रसिद्ध हुई होगी। परतु नया कोट जहाँगीर ने नहीं, बल्कि उसके लडके शाहजहाँ ने बनवाया था जो गोसाईंजी की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद तख्तनशीन हुआ। बैजनाथदासजी का यह कथन, कि जहाँगीर ने अपने बेटे शाहजहाँ के नाम से नई दिल्ली बसाई थी, सरासर गलत है। वास्तव मे नई दिल्ली को शाहजहाँ ही ने बसाया था।

कमलभव नाम के एक व्यक्ति ने गोसाईंजी से प्रार्थना की कि कृपा करके रामचद्रजी का दर्शन करा दीजिए। गोसाईंजी ने उसे अनधिकारी समझ यह कहकर टालना चाहा होगा कि 'यह कोई आसान बात नहीं है'। परतु जब उसने हठ किया तब उन्होंने कहा कि पेड के नीचे त्रिशूल गाडकर ऊपर से उस पर कूद जाओ, अवश्य राम के दर्शन होगे। गोसाईंजी का तात्पर्य यह था कि भगवान् प्रेम के वश होते हैं, प्रेमी को ही वे दर्शन देते हैं और प्राणों के मोह का परित्याग प्रेम का एक आवश्यक लक्षण है। तुम भगवद्दर्शनो के अधिकारी हो, यह सिद्ध करने के लिये यह दिखलाना होगा कि तुम्हे किसी तरह प्राणों का मोह नही है।

कमलभव ने नीचे बर्छा गाडकर कई बार पेड पर से उसके ऊपर कूदने का प्रयत्न किया, परतु उसे साहस न हुआ। यहाँ तक तो कथा ठीक है, क्योंकि गोसाईंजी जानते थे कि कमलभव में इतना साहस नहीं है परतु आगे बढकर जब किंवदती कहती है कि एक पछाहाँ वीर को, जो उधर से होकर जा रहा था, कुतूहल वश पूछने पर जब वस्तु स्थिति ज्ञात हुई तो वह झट से पेड पर चढकर त्रिशूल पर कूद पडा और उसे भगवान् के दर्शन हुए, तब अविश्वास के लिये अवसर निकल आता है।

गोसाईंजी के विषय मे और भी कई छोटी-बडी चमत्कारी किंवदतियाँ प्रचलित हैं, परतु उनको जैसी मिल वैसी ही स्वीकृत नहीं कर लेना चाहिए। नमक मिर्च के लिये जगह छोडकर तथा सभव असभव का विचार करके उनका ग्रहण अथवा परित्याग करना चाहिए।

---

(११) गोसाईंजी की कला

गोसाईंजी भक्ति के क्षेत्र मे जितने महान् थे उतने ही कविता के क्षेत्र मे भी। वस्तुत उनकी कविता उनकी भक्ति का ही प्रतिरूप थी। उनकी भक्ति ही वाणी का आवरण पहनकर कविता के रूप में व्यक्त हुई था। उनकी कविता अपने आप अपना उद्देश्य नहीं थी। 'कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीना' मे जहाँ उनके विनय का पता चलता है वहाँ यह भी सकेत है कि वे अपने को कवि न समझकर कुछ और समझते थे। जिस बडी उम्र म उन्होंने कविता करना आरभ किया था उससे पता चलता है कि जिसे मिल्टन उन्नतमनाओं की निर्बलता कहते हैं वह यशोलिप्सा उन्हें छू तक नहीं गई थी। उन्होंने जो कुछ कहा है वह केवल 'कवि चातुर्य' के फेर में पडकर नहीं बल्कि इसलिये कि बिना कहे उनका जी नहीं मानता था, उन्हें चैन नहीं मिलता था। 'स्वांत सुखाय भतिमजुलमातनोति' मे के 'स्वांत सुखाय' का यही तात्पर्य है। रामचद्र के अनंत रूप अनत शक्ति अनत शील की जो एकात आनदानुभूति उनको हो रही थी उसे वे आत्म परिवृत होकर ही उपभोग नहीं कर सकते थे। ससार को भी उसमें भागी कर लेना अनिवार्य था। यही आकुलता कविता को अबाध प्रवाह देती है। प्रयत्न-प्रसूत कविता वास्तविक कविता नहीं कही जा सकती। उसमे कविता का बहिरग हो सकता है किंतु यह आवश्यक नहीं कि जहाँ कविता का बहिरग दिखाई दे वहाँ उसका आभ्यतर भी मिल जाय। क्योंकि कविता हृदय का व्यापार है, दिमाग को खुजलाकर उसका आवाहन नहीं किया जा सकता। जो आपसे आप उदय न हो वह वास्तविक कविता नहीं। सच्ची, स्पदन करती हुई

सजीव कविता के लिये यह आवश्यक है कि कवि की मनोवृत्तियाँ वर्ण्य विषय के साथ एकाकार हो जायँ। जब कवि की सब भावनाएँ एकमुख होकर जागरित हो उठती हैं, तब कवि का हृदय स्वतः ही भावुक उद्गारों के रूप में प्रकट होने लगता है। इस अभिव्यक्ति के लिये न कवि की ओर से प्रयत्न की आवश्यकता होती है और न कोई बाहरी रुकावट उसे रोक ही सकती है। गोसाईंजी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा हो गई थी, इसमें कोई संदेह नहीं। उनकी निःशेष मनोवृत्तियाँ रामाभिमुख होकर जागरित हुई थीं, इसी से—

'प्रेम उमगि व बिनावली चली सरित सुचि सार।
राम चरा पुरि मिलन हित तुलसी हरख अपार॥'

राम के साथ उनकी मनोवृत्तियों का इतना तादात्म्य हो गया था कि जो कोई वस्तु उनके और राम के बीच व्यवधान होकर आवे उससे कदापि उनके हृदय का लगाव न हो सकता था। यही कारण है कि राम के अतिरिक्त किसी के विषय में उन्होंने अपनी वाणी का उपयोग नहीं किया। उनकी वाणी एकमात्र राम के यशोगान से यशोभिमंडित हुई है। रीति-काल के कवियों की तरह वे जगह जगह लक्ष्मी के वर-पुत्रों की चाटुकारी करते नहीं फिरते थे। नर-काव्य करना वे अनुचित समझते थे—

'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥'

टोडर के संबंध में उन्होंने जो दो-चार दोहे कहे हैं वे भी इसलिये कि—

'तुलसी राम-सनेह का सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥'

रामकथा का आदि स्रोत वाल्मीकीय रामायण है। गोसाईंजी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रंथ का लिया था। आदि रामायणकार होने के कारण गोसाईंजी ने इन कवीश्वर की भी वंदना की है, और

इन्हीं के साथ हनुमन्नाटककार कर्णाश्वर की भी क्योंकि हनुमन्नाटक से भी सहायता ली है। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्म-रामायण, महारामायण, भुशुंडि रामायण, याज्ञवल्क्यरामायण, भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, भरद्वाजरामायण, प्रसन्नराघव, अनर्घ्य-राघव, रघुवंश आदि सैकड़ों ग्रंथों की छाया रामचरितमानस में मिलती है। श्रीरणवीरसिंहजी ने रामचरितमानस के उद्गमों के संबंध में बड़ा सराहनीय और परिश्रमजन्य अनुसंधान किया है, जिससे पता चलता है कि गोसाईंजी की प्रत्येक पंक्ति संस्कृत से ली गई है।

यहाँ पर कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा—

मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़इ गिरिवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल, द्रवउ सकल कलिमल दहन॥
(मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वंदे परमानंद माधव)॥
बंदउँ मुनि पद-कंज, रामायन जेहि निरमयउ।
सखर सकोमल मंजु, दोष रहित दूषन-सहित॥
(नमस्तस्मै कृता येन पुण्या रामायणीकथा।
सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला)॥
एक छत्र एक मुकुट मनि, सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ॥
(निरर्थं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्।
सर्वेषां मुकुटं छत्र मकारो रेफव्यंजनम्॥)
ब्रह्मांडनिकाया निर्मितमाया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥
(जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः।
त्वं ममोदरसंभूत इति लोकान् विडम्बसे॥)

इसी प्रकार किष्किंधा कांड मे वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन श्रीमद्भागवत से लिए गए हैं। जहाँ जहाँ गोसाईंजी ने दार्शनिक निरूपण किया वहाँ वहाँ विशेषत भगवद्गीता की सहायता ली है।

रामचरितमानस में ही नहीं, प्राय सब ग्रंथों मे उन्होंने संस्कृत से सामग्री ली है। यहाँ केवल कवितावली से एक उदाहरण देंगे—

आधरो अधम जड़ जाजरो जरा जवन,
सूकर के सावक ढका ढकेला मग म।
गिरयो हिय हहरि हराम हो हराम हन्यो,
हाइ हाइ करत परीगा काल फग म॥
तुलसी विसोक ह्वै त्रिलोकपति लोक गयो,
नाम के प्रताप, बात विदित है जग म।
सोइ रामनाम जो सनेह सों जपत जन,
ताकी किमि महिमा कही है जात जग में॥

(दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो
हा रामेति हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पस्तनुं त्यक्तवान्।
तीर्णो गोष्पदवद्भवार्णवमहो नाम्न प्रभावात् पुन
किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यांति रामास्पदम्॥)—नारदपुराण।

इस दृष्टि से देखने पर गोसाईंजी के अपनी रामायण को 'छओ शास्त्र सब ग्रथन को रस' कहने की यथार्थता प्रकट हो जाती है। गणित, ज्योतिष, दर्शन आदि सभी शास्त्रों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। तुलसी सतसई म उनका गणित ज्ञान भली भाँति प्रकट होता है। नौ के पहाड़े का यह रहस्यमय प्रयोग देखिए—

तुलसी राम सनेह करु त्यागु सकल उपचार।
जैसे घटत न अंक नौ नौ के लिखत पहार॥

इसी प्रकार 'जग ते रहु छत्तीस (३६) है, राम चरन छ. तीन (६३)' में भक्तों की स्थिति का अच्छा परिज्ञान प्रगट होता है।

ज्योतिष का ज्ञान देखिए—

'स्रु ति गुन कर गुन पुजुग मृग हय रेवती सखाउ।
देहि लेहि धन धरनि श्रर गएहु न जाइहि काउ॥

दोहावली और सतसई में इसी प्रकार के कई दोहे हैं। गीतावली म एकाध अलकारों म भी गोसाईंजी ने अपने ज्योतिष ज्ञान का उपयोग किया है। दर्शनशास्त्र के पूर्ण परिज्ञान की झलक तो उनकी रचनाओं मे पद पद पर मिलती है। गोसाईंजी ने अपने इस आभार को—

'नानापुराणनिगमागमसंमत यद् रामायणे निगदित क्वचिदन्यतोऽपि।'

कहकर स्वीकार किया है।

परतु इससे यह न समझना चाहिए कि गोसाईंजी ने रामचरितमानस लिखने के लिये इन ग्रंथों को पढा था। वे राम के अन्यतम भक्त थे, इसलिये उन्होंने राम-सबधी सभी लभ्य साहित्य पढ़ा था। सबके विवेकोचित त्याग और साग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मजुल लोक रजक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया, उसी को उन्होंने रामचरितमानस के रूप मे जगत् के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण मे उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबध पटुता के योग मे अत्यत पूर्णता के साथ खिल उठता है। केवल एक स्थान पर गोसाईंजी के सस्कृत से सामग्री-चयन का अनौचित्य खटकता है—

'साख सुचिंतित पुनि पुनि देखिय। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिय॥
राखिय नारि जदपि उर माहीं। जुवति सास्त्र नृपती बस नाहीं॥

यह निम्नलिखित श्लोक का अनुवाद है—

'शास्त्र सुचिंतितमपि प्रतिचिंतनीय
स्वाराधितोऽपि नृपति परिशकनीय।

अके स्थिताऽपि युवति परिरक्षणीया
शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् ॥'

इसमें उपदेश चाहे जितना अच्छा हो, या भाव सांसारिक व्यवहार को देखते हुए चाहे जितना सच्चा हो, परंतु जिस स्थान पर गोसाईंजी ने इसे कहा है उस स्थान पर इसका कहना उचित नहीं है। यदि सीताजी राम से प्रेम न होने के कारण स्वयं अपनी इच्छा से रावण के साथ गई होती तभी यहाँ पर इसकी संगति बैठती। परंतु जिस सीता के लिये राम के हृदय में—

'हा गुनखानि जानकी सीता। रूप सील व्रत नेम पुनीता ॥'

यह धारणा हो, उसको उद्देश्य करके "जुवति × × × बस नाहीं" कहना सर्वथा अनुचित और अप्रासंगिक है।

परंतु इतने बृहद् ग्रंथ में गुण-बाहुल्य के बीच यह एक अनौचित्य दब सा जाता है।

वाल्मीकि ने बरात के जनकपुर से चले जाने के पीछे मार्ग में परशुराम का मिलना लिखा है। परंतु गोसाईंजी ने इस घटना को हनुमन्नाटक के अनुसार धनुष भंग के पीछे यज्ञ-भूमि में ही घटित किया है। इससे एक तो लड़ने के लिये उद्यत राजाओं की बोलती बंद हो गई और दूसरे बरात के टोके जाने की अमंगल घटना न हुई। परंतु गोसाईंजी ने हनुमन्नाटक से भी इस अवसर पर कुछ भेद रखा है। हनुमन्नाटक के अनुसार रामचंद्र का परशुराम से वाग्युद्ध भी हुआ था। परंतु गोसाईंजी ने इसे रामचंद्र के महत्त्व के अनुकूल न समझकर लक्ष्मण के बाँट में रखा है। *जानकी-मंगल में न जाने* क्यों गोसाईंजी ने इस विषय में वाल्मीकि ही का अनुसरण किया है। गीतावली में तो यह घटना गोसाईंजी ने दी ही नहीं है।

वाल्मीकि ने जयंत का काक-रूप में आकर सीताजी के स्तन देश में चोंच मारना लिखा है और इस कथा का सुंदरकांड में सीता के

मुँह से हनुमानजी के प्रति कहलाया है, जिससे वे राम के पास जाकर सीता के मिल जाने का प्रमाण दे सकें। गोसाईंजी जगज्जननी सीता के विषय में ऐसी बातें कह नहीं सकते, इससे उन्होंने अध्यात्म-रामायण के अनुसार चरण में चोंच मारना लिखा है और इस घटना का उल्लेख पंचवटी के ही वर्णन के अंतर्गत किया है।

सेतुबंध के समय शिवजी की स्थापना की ओर वाल्मीकि ने रामचंद्र के एक कथन में संकेत भर किया है किंतु गोसाईंजी ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है, क्योंकि उन्हें वैष्णवों और शैवों की एकता संपादित करना अभीष्ट था।

छोटे-मोटे प्रसंगों और विवरणों में यत्र तत्र और भी बहुत भेद मिलता है।

गोसाईंजी की प्रबंध पटुता का परिचय एक इसी बात से मिल सकता है कि रामचरितमानस की कथा को तीन व्यक्ति तीन श्रोताओं से कह रहे हैं। गोसाईंजी अंत तक इस बात को भूले नहीं हैं और समय समय पर पाठक को इस बात की याद मिलती रहती है कि गरुड से भुशुंडि कथित कथा को शिव पार्वती से और शिव कथित कथा को याज्ञवल्क्य भरद्वाज से कह रहे हैं।

कथा का रस यदि बिगड़ता है तो गोसाईंजी के बार बार यह याद दिलाने से कि राम परब्रह्म परमात्मा थे और कभी स्वयं रामचंद्र के मुँह से यह आभास दिलाने से कि मैं परब्रह्म हूँ। अपने कपि मित्रों को विदा करते हुए राम कहते हैं—

अब गृह जाहु सखा सब, भजेहु मोहिं दृढ़ नेम।
सदा सर्वगत सर्वहित, जानि करेहु अति प्रेम॥'

यदि कोई यूरोपीय कह बैठे कि बंदरों के ही ऊपर इस कथन का प्रभाव हो सकता था, तो उसके लिये अवकाश है। परंतु भक्तों के लिये इसी में सौंदर्य है। कहीं कहीं गोसाईंजी असंभव बातें भी

लेख गए हैं। बादलों का श्रद्धा के कारण किसी पथिक पर छाया करने की उद्भावना अस्वाभाविकता की सीमा तक नहीं पहुँचती। पृथ्वी पर न उतरकर देवताओं के आकाश ही से फूल गिराने तक भी गनीमत है, किंतु राम के लिये साधे स्वर्ग से इंद्र का रावण से लड़ने के लिये रथ भेजना अस्वाभाविक लगता है।

जिस प्रकार गोसाईंजी का जीवन राम-मय था उसी प्रकार उनकी कविता भी। एक राम को अपनाकर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया। रामचरित कहकर कोई वस्तु ऐसी न रही जिसके विषय में उनके लिये कहना शेष रह गया हो। राम चरित्र की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के संपूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसी में उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया। अंत प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। दोनों को उन्होंने भिन्न भिन्न परिस्थितियों में देखा था। उनकी पारगामी सूक्ष्म दृष्टि उनके अंतस्तल तक पहुँची थी। इसी से उन्हें चरित्र चित्रण और प्रकृति चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई। परंतु गोसाईंजी आध्यात्मिक धर्मशील प्रकृति के मनुष्य थे। सबके संरक्षक राम के प्रेम ने उन्हें संरक्षण के मूल शीलमय धर्म का प्रेमी बनाया था, जिसके संरक्षण में उन्हें प्रकृति भी संलग्न दिखाई देती थी। पंपा सरोवर का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

'फल भर नम्र बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मसीलन्हि के दिन सुख संजुत जाहिं॥'

प्राकृतिक दृश्यों में शील-संरक्षिका धर्मशीला नीति की यह छाया उनके काव्यों में सर्वत्र दिखाई देती है। किष्किंधाकांड के अंतर्गत वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णन इसके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। यह गोसाईंजी

का महत्त्व है कि धर्म माहात्म्य, गुणोत्कर्ष आदि अलंकार-योजना के सामान्य नियमों का निर्वाह करते हुए भी वे शील और सुरुचि के प्रसार में समर्थ हुए हैं।

गोसाईंजी का प्रकृति से परिचय केवल परंपरागत नहीं था। उन्होंने प्रकृति के परंपरागत प्रयोगों को स्वीकार किया है, परंतु वहाँ तक जहाँ तक ऐसा करना सुरुचि के प्रतिकूल न पड़ता। सीता के वियोग में विलाप करते हुए रामचंद्र के इस कथन में —

'खंजन, सुक, कपोत, मृग, मीना। मधुप निकर, कोकिला प्रवीना॥
कुंदकली, दाड़िम, दामिनी। कमल, सरद ससि, अहि भामिनी॥
बरुन पास, मनोज धनु, हंसा। गज, केहरि, निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल, कनक, कदलि, हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥'

उन्होंने कवि परंपरा का ही अनुसरण किया है। ये उपमान न जाने कब से भिन्न भिन्न अंगों की, विशेषकर स्त्रियों के अंगों की, सुंदरता के प्रतीक समझे जाते हैं। मूल रूप में ये मनुष्य-जाति की, और विशेषकर उनके अधिक भावुक अंग अर्थात् कवि-समुदाय की, निसर्ग-सौंदर्य प्रियता के द्योतक हैं। परंतु आगे चलकर इनका प्रयोग केवल परंपरा निर्वाह के लिये होने लगा। गोसाईंजी के समकालीन कवि सूरदास और केशवदास आदि में यही बात देखी जाती है। परंतु गोसाईंजी ने परंपरा के अनुसरण में ही संतोष किया हो, ऐसी बात नहीं। उन्होंने अपने लिये अपने आप भी प्रकृति का पर्यवेक्षण किया था। उनके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य से प्रभावित होने की क्षमता थी। उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन, सृष्टि के दोनों अंग एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भासित होते हैं। उनकी दृष्टि में ग्लानि-पूरित हृदय को लेकर रामचंद्र को मनाकर लौटा लाने के लिये जानेवाले शील निधान भरत के उद्देश्य में प्रकृति की भी सहानुभूति है। इसी लिये उनके मार्ग को सुगम बनाने के लिये—

'किए जाहि छाया जलद, सुखद बहति वर वात।'

प्रकृति की सरल सुंदरता उनको सहज ही आकर्षित कर लेती थी। पक्षियों का कलरव, जिसमें वे परमात्मा का गुणगान सुनते थे, उन्हें आमंत्रक प्रतीत होता था—

'बोलत जलकुक्कुट कल हंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुंदर खग गन गिरा सोहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥'

कोकिला की मधुर ध्वनि उन्हें इतनी मनामोहक जान पड़ती थी कि उससे मुनियों का भी ध्यान भंग हो जाय।

'जड़ चेतन मय जीव जत' सबको राममय देखनेवाले गोसाईंजी का हृदय यदि प्रकृति की सुंदरता के आगे उछल न पड़ता तो यह आश्चर्य की बात होती।

प्रकृति-सौंदर्य के लिये उनके हृदय में जो कोमल स्थान था उसी का प्रसाद है कि हिंदी में स्वीकृत विवरण मात्र दे देने की परंपरा से ऊपर उठकर कहीं कहीं उनकी प्रतिभा ने प्रकृति के पूर्ण चित्रों का निर्माण किया है। प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोसाईंजी में दिखाई देती है वह हिंदी के और किसी कवि में देखने को नहीं मिलती।

'लखनु दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठ भेरी॥'

इस डेढ़ चौपाई में गोसाईंजी ने चित्रकूट और उसके पाद पर बहनेवाली मंदाकिनी का सुंदर तथा यथातथ्य चित्र अंकित कर दिया है और साथ ही तीर्थ का माहात्म्य भी कह दिया है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत का इतना सार्थक समन्वय गोसाईंजी की ही कला का कौशल है।

गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का जो चित्र अंकित किया वह और भी मनोरम और पूर्ण है—

'सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रगमँगे सृ गनि ।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि भृ गनि ॥
सिखर परस घनघटहि मिलति बगपाति सो छबि कबि बरनी ।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलक्त नभ बन प्रतिबिंब तरग ।
मानहुँ जग रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अग ॥'

इसी प्रकार पपा सरोवर पर जल पीने के लिये आए हुए मृगों के झुड का यह चित्र भी वस्तुस्थिति को ठीक ठीक आँखों के सामने खींच देता है—

'जहँ तहँ पियहि बिबिध मृग नीरा । जनु उदार गृह जाचक भीरा ॥'

मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अग है। उसकी बाहरी चाल-ढाल, मुद्रा, आकार आदि भी बाह्य प्रकृति के वर्णन के ही अतर्गत समझने चाहिएँ। गोसाईंजी ने इनके चित्रण मे भी अपना कौशल दिखलाया है। मृगया करते हुए रामचद्र की मूर्ति उनके हृदय में विशेष रूप से बसी हुई थी। उस मूर्त्ति का चित्र खींचते हुए उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है—

'जटा मुकुट सिर सारस नयननि गौंह तकत सुभौंह सकोरे ।'

और भी—

'सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे ।
धावनि, नवनि, बिलोकनि, बिथकनि, बसै तुलसी उर आछे ॥'

मृग के पीछे दौड़ते हुए, बाण छोड़ने के लिये झुकते हुए, मृग के भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हारकर परिश्रम जनाते हुए राम का कैसा सजीव चल चित्र आँखों के सामने आ जाता है।

बाह्य प्रकृति से अधिक गोसाईंजी की सूक्ष्म अतर्दृष्टि अत-प्रकृति पर पड़ी थी। मनुष्य-स्वभाव से उनका सर्वांगीण परिचय था। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पड़कर मन की क्या दशा होती है,

इसको वे भली भाँति जानते थे। इसी से उनका चरित्र चित्रण बहुत पूर्ण और दोष रहित हुआ है। रामचरितमानस म प्राय सभी प्रकार के पात्रों के चरित्र-अकन मे उन्होंने अपनी सिद्धहस्तता दिखाई है। दूसरे के उत्कर्ष को अकारण ही न देख सकनेवाले दुर्जन किस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति को अपनी मनोवृत्ति देने के लिये पहले स्वय स्वार्थत्यागी बनकर अपने को उनका हितैषी जताकर उनके हृदय मे अपने भावों का भरते है, इसका मथरा के चरित्र में हमे अच्छा दिग्दर्शन मिलता है। दुर्जनों की जितनी चालें होती हैं उन्हीं के दिग्दर्शन के लिये मानो सरस्वती मथरा की जिह्वा पर बैठी थी।

जिस पात्र को जो स्वभाव देना उन्हें अभीष्ट रहा है उसे उन्होंने कोमल वय में बीज-रूप में दिखलाकर आगे बढते हुए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उसका नैसर्गिक विकास दिखाया है। रामचद्र के जिस स्वार्थत्याग को हम बाहुबल से विजित, न्यायत स्वायत्त और वस्तुत हाथ मे आए हुए लका के समृद्ध राज्य को बिना हिचक विभीषण को सौंप देने मे देखते हैं वह एकाकी आई हुई उमग का परिणाम नहीं है। वह रामचद्र का बाल्यकाल ही से क्रमपूर्वक विकास पाता हुआ स्वभाव है। उसे हम चौगान के खेल मे छोटे भाइयों से जीतकर भी हार मानते हुए बालक राम में, अन्य पुत्रों की उपेक्षा कर जेठे पुत्र को ही राज्याधिकारी माननेवाली अन्याय-युक्त प्रथा पर विचार करते हुए युवा राम में, और फिर प्रसन्नता से राज्य छोडकर वनवासी ऋषि-मुनियो की भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए वनवासी राम में देखते हैं।

रामचरितमानस म रावण का जितना चरित हमारी दृष्टि म पडता है उसमे आदि से अत तक उसकी एक विशेषता हमें दृष्टिगत होती है। वह है घोर भौतिकता। कदाचित् आत्मा की उपेक्षा करते हुए भौतिक शक्ति का अर्जन ही गोसाईजी राक्षसत्व का अभिप्राय

समझते थे। उसका अपार बल, विश्वविश्रुत वैभव, उसकी धर्महीन शासन प्रणाली जिसमे ऋषि मुनियों से कर वसूल किया जाता था, उसके राज्य भर मे धार्मिक अभिरुचि का अभाव, ये सब उसके भौतिकवाद के द्योतक हैं। प्रश्न उठ सकता है कि वह बडा तपस्वी भी तो था? किंतु उसके तप से भी उसकी भौतिकता का ही परिचय मिलता है। वह तप उसने अपनी आध्यात्मिक उन्नति या मुक्ति के उद्देश्य से नहीं किया था वरन् इस कामना से कि भौतिक सुख को भोगने क लिये वह इस शरीर से अमर हो जाय।

हनुमानजी में गोसाईंजी ने सेवक का आदर्श खडा किया है। वे राम के सेवक हैं। गाढे समय पर जब सबका धैर्य और शक्ति जवाब दे जाती है तब हनुमानजी ही से राम का काम सधता है। समुद्र को लाँघकर सीता की खबर वही लाए। लक्ष्मण को शक्ति लगने पर द्रोणाचल पर्वत को उखाड ले आकर उन्होंने सजीवनी बूटी प्रस्तुत की। भक्त के हृदय मे बसने की राम की प्रतिज्ञा जब व्यवधान मे पडी तब उन्हीं ने अपना हृदय चीरकर उसकी सत्यता सिद्ध की। परन्तु हनुमानजी के चरित्र मे एक बात से कुछ असमजस हो सकता है। वे सुग्रीव के सेवक थे। सुग्रीव से बढकर राम की भक्ति करके क्या उन्होंने सेवाधर्म का व्यतिक्रम नहीं किया? नहीं, लका-विजय तक वास्तव में उन्होंने सुग्रीव की सेवा कभी छोडी ही नहीं और लोगों से कुछ दिन बाद तक जो वे अयोध्या मे राम की सेवा करते रहे वह भी सुग्रीव की आज्ञा से—

'दिन दस करि रघुपति-पद-सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥
पुन्य पुंज तुम पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥'

इसी प्रकार भरत के हृदय की सरलता, निर्मलता, निःस्पृहता और धर्मप्रवणता उनकी सब बातों से प्रकट होती है। राम खुशी से उनके लिये राज्य छोड़ गए हैं, कुलगुरु वशिष्ठ उनको सिंहासन पर

बैठने की अनुमति देते हैं, कौशल्या अनुरोध करती हैं, प्रजा प्रार्थना करती है, परंतु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, वे इसी बात से क्षुब्ध हैं कि लोग कैकयी के कुचक्र मे उनका हाथ न देखें। वे माता से उसकी कुटिलता के लिये रुष्ट हैं। परंतु साथ ही वे अपने को माता से अच्छा भी नहीं समझते, इसी मे उनके हृदय की स्वच्छता है। जब माता ही बुरी है तो पुत्र भला कैसे हो सकता है?—

'मातु मंद मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥'

उनको सिंहासन स्वीकार करने के लिये आग्रह करनेवाले लोगों से उन्होंने कहा था—

'कैकेयि-सुअन कुटिल मति, राम बिमुख गत-लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस, मोहि से अधम के राज॥'

भरत के संबंध में चाहे यह बात न खपती और वे प्रजा का पालन बड़े प्रेम से करते जैसा उन्होंने किया भी, परंतु उनका राज्य स्वीकार करना महत्वाकांक्षी राजकुमारों और द्वेषपूर्ण सौतों के लिये एक बुरा मार्ग खोल देता, जिससे प्रत्येक अभिषेक के समय किसी न किसी कांड की आशंका बनी रहती। इसी बात को दृष्टि मे रखकर उन्होंने कहा था—

'मोहि राज हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥'

भरत की लोक-मर्यादा की, जिसका ही दूसरा नाम धर्म है, रक्षा की इस चिंता ने ही राम को—

'भरत भूमि रह राउरि राखी।'

कहने के लिये प्रेरित किया था। उमड़ते हुए हृदय और वाष्प-गद्गद कंठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिये चित्रकूट पहुँचने पर जब राम ने उनसे अपना धर्म-संकट बतलाया तब उसी धर्म प्रवणता ने उन्हें राज्य का भार स्वीकार करने के लिये बाध्य किया। परंतु उन्होंने केवल राजा के कर्तव्य की कठोरता को स्वीकार किया, उसके

सुख-वैभव को नहा। सुख-वैभव के स्थान पर उन्होंने वनवासी का कष्टमय जीवन स्वीकार किया जिससे उनके उदाहरण से धर्मोल्लंघन की आशका दूर हो जाय।

परतु वास्तविक मानव-जीवन इतना सरल नहा है जितना सामान्यत बाहर से दीखता है, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो सकता है। मनुष्य के स्वभाव में एक ही भावना की प्रधानता नहीं रहती। प्राय एक से अधिक भावनाएँ उसके जीवन मे स्थित होकर उसके स्वभाव की विशेषता लक्षित कराती हैं। जब कभी ऐसी दो भावनाएँ एक दूसरे की विरोधिनी होकर आती हैं उस समय यदि कवि इनके चित्रण में किंचित् भी असावधानी करे तो उसका चित्रण सदोष हो जायगा। उदाहरण के लिये गोसाईंजी ने लक्ष्मण को प्रचड प्रकृति दी है, परतु साथ ही उनके हृदय में राम के लिये अगाध भक्ति का भी सृजन किया है। जहाँ पर इन दोनों बातो का विरोध न हो वहाँ पर इनके चित्रण में उतनी कठिनाई नहीं हो सकती। जनक के 'वीर विहीन मही मैं जानी' कहते ही वे तमककर कह उठते हैं—

> 'रघुबसिन महँ जहँ कोउ होइ। तेहि समाज अस कहै न कोई॥'

परशुराम के रोप भरे वचनो को सुनकर व कोरी कोरी सुनाने मे कुछ उठा नहा रखते—

> 'भृगुबर परसु देखावहु मोही। विप्र विचारि बचौ नृप द्रोही॥
> मिले न कबहुँ सुभट रन गाढे। द्विज देवता घरहि के बाढे॥'

और भरत को ससैन्य चित्रकूट की ओर आते देख राम के अनिष्ट की आशका होते ही वे बिना आगा पीछा सोचे भरत का काम तमाम करने के लिये उद्यत हो जाते हैं—

> 'जिमि करि निकर दलइ मृगराजू। लेइ लपट लवा जिमि बाजू॥
> तैसहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता॥'

इसी प्रकार सरल रामभक्ति का परिचय भी उनके जीवन के चाहे जिस अंश में देखने को मिलेगा। गोसाईंजी के कौशल की परख वहाँ पर हो सकती है जहाँ पर राम के प्रति भक्ति-भावना और सहज प्रचंड प्रकृति एक दूसरी के विरुद्ध होकर आवे। यदि ऐसे स्थल पर दोनों भावों का निर्वाह हुआ तो समझना चाहिए कि वे चरित्र चित्रण में कृतकार्य हुए हैं।

रामचंद्र को कैकेयी ने वन जाने का उपदेश दिया है। वचन बद्ध दशरथ 'नाहीं' नहीं कर सकते हैं। ऐसे अवसर पर यह आशा करना कि लक्ष्मण क्रोध से तिलमिलाकर धनुष-बाण लेकर सबका विरोध करने के लिये उद्यत हो जायँगे, स्वाभाविक ही है। परंतु देखते हैं कि गोसाईंजी ने लक्ष्मण से इस समय ऐसा कुछ भी नहीं करवाया है। परंतु यह जितना ही सामान्य पाठक की आशा के विरुद्ध हुआ है उतना ही स-प्रयोजन भी है, क्योंकि यहाँ पर क्रोध प्रकट करना लक्ष्मण के स्वभाव के विपरीत होता। ऐसा करने से वे राम की रुचि के विरुद्ध काम करते। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा का तब पता चला जब राम वन के लिये तैयार हो चुके थे। एक पदानुसारी भृत्य की भाँति वे भी चुपचाप वन जाने की तैयारी करने लगे। यह बात नहीं कि उन्हें क्रोध न हुआ हो, क्रोध हुआ अवश्य था, परंतु उन्होंने उसे दबा लिया। ससैन्य भरत को चित्रकूट आते हुए देखकर—

'आइ बना भल सकल समाजू। प्रगट करौं रिसि पाछिलि आजू॥'

कहकर उन्होंने जिस रिस का उल्लेख किया था वह यही रिस है जिसे उन्होंने उस समय प्रकट नहीं होने दिया था। गोसाईंजी ने भी इस अवसर की गंभीरता की रक्षा के उद्देश्य से लक्ष्मण के मन की दशा का उल्लेख नहीं किया।

इसी प्रकार लका जाने के लिये प्रस्तुत रामचद्र ने तीन दिन तक समुद्र से रास्ता देने के लिये विनय की। लक्ष्मण को विनय की बात पसद न आई। परतु उन्होने अपनी अरुचि प्रकट नहीं की। जब रामचद्र ने समुद्र को अग्नि बाणों से सोखने का विचार करके धनुष खींचा तब लक्ष्मण की प्रसन्नता दिखलाकर गोसाईंजी ने इस अरुचि की ओर सकेत किया।

भाव द्वद्व का एक और उदाहरण लीजिए। कैकेयी के कहने पर रामचद्र ने वन जाने का निश्चय कर लिया है। इस समय दशरथ का राम प्रेम और उनकी सत्यप्रतिज्ञता दोनो कसौटी पर हैं और उनके साथ साथ गोसाईंजी का चरित्र चित्रण कौशल भी। पहले तो वन जाने की आज्ञा गोसाईंजी ने दशरथ के मुँह से नहा कहलाई है। 'तुम वन चले जाओ' अनन्य प्रेम के कारण दशरथ यह कह नहीं सकते थे। वे चाहते नहा थे कि राम वन जायँ। वे चाहते तो इस समय अपने वचन की अवहेलना करके रामचद्र को वन जाने से रोकने का प्रयत्न कर सकते थे। परतु वचन-भग करने का विचार भी उनके मन में न आया। हाँ, वे मन ही मन देवताओं को मनाते रहे कि राम स्वय ही—

'बचन मोर तजि रहहि घर परिहरि सील सनेहु।'

सत्य प्रतिज्ञ दशरथ अवमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे, परतु राम का बिछोह उन्हें असह्य था। उनका यह राम प्रेम कोई छिपी बात नहीं थी। कैकयी को समझाती हुई विप्र-वधुओं ने कहा था—'नृप कि जिइहि बिनु राम'। लक्ष्मण को समझाते हुए राम ने इस आशका की ओर सकेत किया था—'राउ वृद्ध, मम दुख मन माहा'। हुआ भी यही। वचनों की रक्षा में जो राजा छाती पर पत्थर रखकर प्रिय पुत्र राम को वन जाते हुए देखते हैं, उन्हा को हम राम के विरह मे स्वर्ग जाता हुआ देखते हैं।

इस प्रकार जिस स्वभाव का व्यक्ति जिस अवस्था मे जैसा काम करता, गोसाईंजो ने उसे वैसा ही करते दिखाया है। इसका केवल एक अपवाद हमे मिलता है। वह है राम का वालि को छिपकर मारना। यह शीलसागर न्यायप्रेमी राम के स्वभाव के अनुकूल नहीं हुआ है—

'मारेहु मोहि व्याध की नाइ ।'

मरते समय बालि के किए हुए इस दोपारोपण का राम कोई सतोपजनक उत्तर नहीं दे सके।

'अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुन सठ कन्या सम ये चारी।

इन्हि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि वधे कछु पाप न होई॥'

अनुज वधू यदि कन्या के समान है तो क्या अग्रज-वधू भी माता के समान नहीं है? सुग्रीव का तो इसके लिये रामचद्र ने वध नहीं किया! यदि बालि वध्य भी था और वह भी राम के द्वारा तो भी कोई यह नहीं कह सकता कि जिस उपाय से राम ने बालि को मारा वह उचित था। राम को चाहिए था कि पहले बालि पर दोषारोपण करते, फिर उसे ललकारकर युद्ध मे मारते जैसा महावीर-चरित मे भवभूति ने कराया है। उसमे राम के बालि को अपना शत्रु समझने का भी कारण दिया गया है, क्योंकि वालि ने पहले ही राम के विरुद्ध रावण से मित्रता कर ली थी। दूसरे के साथ युद्ध मे लगे हुए व्यक्ति को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी खटका नहीं है, पेड की आड से छिपकर मारना राम के चरित पर एक बडा भारी कलक है जिस पर न तो हेतुवाद के चूने से कोई लीपा-पोती की जा सकती है और न मनुष्यता के रग से ही। उद्देश्य चाहे कितना ही उत्तम क्यों न हो वह इतने गर्हित उपाय के अनौचित्य को दूर नहीं कर सकता, और न यह कलक रामचद्र को अवतार से मनुष्य की कोटि म उतार लाने के लिये ही आवश्यक है। निरहातुरता

म करुण विलाप करते हुए तथा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर यह कहते हुए—

'जनतेउँ जौं बन बंधु बिछोहू। पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू ॥'
उन्होंने जो हृदय की मानवोचित मधुर कमजोरी दिखाई है वही उन्हें मनुष्यता की कोटि से बिल्कुल बाहर जाने से रोकने के लिये पर्याप्त है, और नीचे उतरकर धर्माधर्म का बिल्कुल विचार ही त्याग देना मनुष्यता की कोटि से भी नीचे गिरना है।

परंतु इसका सारा दोष गोसाईंजी पर ही नहीं मढ़ा जा सकता। उनसे पहले के रामचरित के प्रायः सभी लेखकों ने रामचंद्र से यह कर्म कराया है। इससे इस घटना का महत्त्व इतिहास का सा हो जाता है, जिसके विरुद्ध चलना गोसाईंजी चाहते न थे। अन्यत्र गोसाईंजी ने इसे भक्त-वत्सलता का उदाहरण कहकर समझाने का प्रयत्न किया है, परंतु उससे कुछ भी समाधान नहीं होता। यह कहना पड़ेगा कि आपत्ति में पड़कर राम को बहुत कुछ कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान नहीं रह गया था। उन्हें एक मित्र की आवश्यकता थी जो, चाहे जिस प्रकार हो, उनके उपकार के भार से दबकर उनका सच्चा सहायक हो जाता। सुग्रीव ने पहले मित्रता का प्रस्ताव किया, इसलिये राम ने उसी के साथ मित्रता कर ली। यदि बालि को रामचंद्र की मित्रता अभीष्ट होती और वह सुग्रीव के पहले मित्रता का प्रस्ताव करता तो संभवतः बालि के स्थान पर सुग्रीव को स्वर्ग की यात्रा करनी पड़ती।

जहाँ मानव-मनोवृत्तियों के सूक्ष्म ज्ञान ने गोसाईंजी से चरित्र-विधान में स्वाभाविकता की प्राण प्रतिष्ठा कराई वहाँ साथ ही उसने रस की धारा बहाने में भी उनको सहायता दी, क्योंकि रसों के आधार भी भाव ही हैं। गोसाईंजी केवल भावों के शुष्क मनो-वैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को

एक दूसरे के साथ सश्लिष्टावस्था मे देखा था, जैसा कि वास्तविक जगत् मे देखा जाता है। रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि मे इन्हीं के स्वाभाविक सयोग से उनकी रस प्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने मे समर्थ हुई है। प्रेम को उन्होंने कई रूपों मे स्थायित्व दिया है। गुरु विषयक रति, दांपत्य प्रेम, वात्सल्य, भगवद्विषयक रति या निर्वेद, सभी हमे रामचरितमानस मे पूर्णता को पहुँचे हुए मिलते हैं। गुरु विषयक रति का आनद विश्वामित्र के चेलों के रूप मे राम-लक्ष्मण हमे देते हैं जो गुरु से पहले जागकर उनकी सेवा शुश्रूषा मे सलग्न दिखाई देते हैं। भगवद्विषयक रति की सबसे गहरी अनुभूति उनकी विनयपत्रिका मे होती है, यद्यपि उनके अन्य ग्रथों मे भी इसकी कमी नहीं है। शृगार रस के प्रवाह मे पाठकों को आप्लुत करने मे गोसाईंजी ने कोई कसर नहीं रखी है, परतु उनका शृगार रस रीति-काल के शृगारी कवियों के शृगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृगार रस यदि अश्लीलता से बहुत दूर पवित्रता की उच्च भूमि मे कहीं उठा है तो वह गोसाईंजी की कविता मे। जहाँ परम भक्त सूरदास भी अश्लीलता के पक्ष मे पड गए हैं वहाँ गोसाईंजी ने अपनी कविता में लेश मात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

> 'करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लुभान।
> मुख सरोज मकरद छबि, करइ मधुप इव पान॥
> देखन मिस मृग विहँग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।
> निरखि निरखि रघुबीर-छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥'

एक दूसरे के प्रति अकुरित होते हुए इस सहज प्रेम के द्वारा किसके हृदय में शृगार रस की पुनीत व्यजना न होगी ?

फिर चित्रकूट मे लक्ष्मण की बनाई हुई पर्णशाला मे —

'निज कर राजीव नयन, पल्लव दल रचित सयन,
प्यास परसपर पियूष प्रेम पान की ।
सिय अग लिखैं धातु राग, सुमननि भूषन बिभाग,
तिलक करनि का कहौं कला निधान की ।
माधुरी बिलास हास, गावत जस तुलसिदास,
बसति हृदय जोरी प्रिय परम प्रान की ।'

सचमुच सरल प्रेममय यह जोडी हर एक के हृदय मे घर कर लेती है। इनका यशागान करती हुई गोसाईंजी की वाणी धन्य है, जिसने वासना विहीन शुद्ध दापत्य प्रेम का यह परम पवित्र चित्र लोक के समक्ष रखा है। जब कोई विदेशी कहता है कि हिंदी के कवियों ने प्रेम का वासना और स्त्री को पुरुष के विलास की ही सामग्री समझकर हिंदी साहित्य को गदगी से भर दिया है तब 'यह लांछन सर्वांश में सत्य नहीं है,' यह सिद्ध करने के लिये गोसाईंजी की रचनाओं की ओर सकेत करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं रहता।

गोसाईंजी के विप्रलभ शृगार की मृदुल कठोरता सीताहरण के समय राम के विलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है ।

वात्सल्य की मनोहरता इसमे देखिए—

'ललित सुतहि लालत सचु पाए
कौसल्या कल कनक अजिर महँ सिखवति चलन अँगुरियाँ लाए ॥

 × × ×

दँतियाँ द्वै द्वै मनोहर मुख छबि अरुन अधर चित लेत चोराए।
किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि डरपत जननि पानि छुटकाए ॥
गिरि घुटवनि टेकि उठि अनुजनि तोतरि बोलत पूप देखाए।
बालकेलि अवलोकि मातु सब मुदित मगन आनँद न अमाए ॥'

जन्मभूमि के प्रेम का भी, जो स्थायित्व को पाकर आजकल कविता में रस की श्रेणी तक पहुँच गया है, एकाध छींटा गोसाईंजी ने छिड़का है, जिसका उल्लेख हम पहले कर आए हैं।

करुण रस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण को शक्ति लगने पर फूट पड़ती है। राम के वनवासी होने पर तो शोक की छाया मनुष्यों ही पर नहीं, पशुओं पर भी पड़ी। जिस रथ पर राम को सुमंत्र कुछ दूर तक पहुँचा आया था, लौट आने पर उसमें जुते हुए घोड़ों की आकुलता देखिए—

'देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पख बिहँग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं, न पियहिं जल, मोचहिं लोचन बारि।'

घोड़ों की जब यह दशा थी तब पुरवासियों की और विशेषकर उनके कुटुंबी-जनों की क्या दशा हुई होगी।

जनक के 'वीर-बिहीन मही मैं जानी' कहने पर लक्ष्मण की आकृति में जो परिवर्त्तन हुआ उसमें मूर्तिमान रौद्र रस के दर्शन होते हैं—

'माखे लखन कुटिल भईं भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें।'

वीर और वीभत्स रस का तो मानो लंकाकांड स्रोत ही है। शिव-धनुष के भंग होने पर चारों ओर जो आतंक छा जाता है उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है—

'भरि भुवन घोर कठोर रव रबि बाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले।
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं।'

रामचंद्रजी से सती और कौशल्या को एक ही साथ कई रूप दिखलाकर उन्होंने अद्भुत रस का चमत्कार दिखलाया। शिवजी की बरात के वर्णन और नारद-मोह में हास्यरस के फुहारे छूटते हैं। स्वयं राम-कथा के भीतर कृत्रिम रूप बनाकर आई हुई वास्तव में कुरूपा सूर्पणखा के राम के प्रति इस वाक्य से ओंठ मुलक ही जाते हैं—

'तुम्ह सम पुरुप न मो सम नारी । यह सँयोग विधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
ताते अब लगि रहिउँ कुमारी । मन माना कछु तुम्हहि निहारी ॥'

लक्ष्मण इस पर मन ही मन खूब हँसे थे । इसी कारण जब राम ने उसे उनके पास भेजा तो उनसे भी न रहा गया । बोले, उन्हीं के पास जाओ । वे राजा हैं, सब कुछ उन्हें शोभा दे सकता है—

'प्रभु समरथ कोसलपुर-राजा । जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ॥'

इतना होने पर भी, यह कहीं नहीं भान होता कि गोसाईंजी ने प्रयत्नपूर्वक आलंबन, उद्दीपन, संचारी आदि को जुटाकर रस परिपाक का आयोजन किया हो । प्रबंध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस की तलैयाँ बँध गई हैं जिनमें जी भर डुबकी लगाकर ही साहित्यिक तैराक आगे बढ़ने का नाम लेता है ।

बात यह है कि वे कला को कलाबाजी की श्रेणी में गिरा देना नहीं चाहते थे । कला (आर्ट) और कलाबाजी (आर्टिफिस) में सदा से भेद होता आया है । इसी प्रकार खाली कारीगरी भी कला नहीं है । कलाकार (आर्टिस्ट) न कारीगर (आर्टिजन) है और न कलाबाज (आर्टिफिसर) । कलाबाज केवल हाथ की सफाई दिखाता है और कारीगर की सफलता उसके परिश्रम में है, जब कि कलावंत विवश होकर कला की सृष्टि का साधन बनता है, उसमें स्वतः कला का स्फुरण होता है । कलाबाज और कारीगर स्वयं अपनी सृष्टि के कर्त्ता हैं, परंतु कलावंत कला की अभिव्यक्ति का एक माध्यम मात्र है । कलाबाज और कारीगर में उनकी इच्छा शक्ति प्रेरणा करती है, कलावंत की विशेषता उसकी विवशता में है ।

'कनक कनक तें सौगुनी, मादकता अधिकाय ।
वह खाए बौरात है, यह पाए बौराय ॥'

मे कलाबाजी है। इस दोहे की विशेषता उक्ति का अनूठापन है जो सोना और धतूरा दोनो के लिये एक ही शब्द रख देने से आया है। केशवदास ने जहाँ तीन तीन अर्थ एक एक छंद मे ठूँसकर भरे हैं वहाँ वे कारीगर का काम करते हैं।

'मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु बाहु बिनु करौ भरोसो काको॥
सुनु सुग्रीव साँच हूँ मो सन फेर्यो बदन विधाता।
ऐसेउ समय समर संकट हौं तज्यौं लपन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं साखामृग हौं पुनि अनुज सँघाती।
ह्वैहै कहा विभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥'

गोसाईंजी का यह पद शुद्ध कला का नमूना है। इसमे न कहीं प्रयत्न दीखता है और न कहीं बात की ब्योंत ही है। सीधे हृदय से निकली हुई बातें हैं, कहा बनावट नहीं है। गोसाईंजी की रचना अधिकतर इसी श्रेणी की है। कलाबाजी तो उनमे नहीं के बराबर है। बहुत ढूँढने से हमें एक उदाहरण मिला—

'साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। बंदनीय जेहि जग जसु पावा॥

हाँ, कारीगरी उन्होंने कहा कहीं दिखाई है। बिहारी के समान रस के सबध मे कारीगरी करना, जैसा दिखाया जा चुका है, न तो उनकी रुचि के अनुकूल होता और न उसकी उन्हे आवश्यकता ही थी। इसके लिये उन्होंने अलकार की ही भूमि उचित समझा। अलकारों में भी उन्होंने हर कहीं यह बात नहीं की है। कथा प्रबध के बीच में ऐसा करना वे प्रत्येक दशा म अनुचित समझते थे। कथा प्रबंध के भीतर उन्होंने अधिकतर उन्हीं अलकारों को स्थान दिया है जो स्वत आ गए हैं, जिनके लिय बहुत सोचने समझने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी और जिनका अस्तित्व भी किसी प्रकार बिना सोचे

समझ प्रकट नहीं होता। ऐसे अलंकारों में से विशेषकर परंपरित रूपक और उपमा गोसाईंजी के प्रिय अलंकार हैं। प्रबंध के बीच में एकाध जगह जो कारीगरी दिखाई है वह उतनी नहीं खटकती, क्योंकि वह भी उस अवसर के गांभीर्य को बढ़ाने में सहायक होती है। रूपक पुष्ट इस व्यतिरेक को देखिए—

'जौ छवि सुधा-पयोनिधि होई। परम रूप-मय कच्छप सोई॥
सोभा रजु मंदर सृंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
इहि बिधि उपजै लच्छि जब, सुंदरता सुख मूल।
तदपि सँकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥'

इससे जानकीजी के सौंदर्य की अनुभूति के साथ साथ कितना आदर-भाव का उदय मन में होता है। परंतु इस प्रकार की कारीगरी विशेष रूप से गोसाईंजी ने रामकथा के आरंभ होने से पहले और कथा समाप्त हो जाने के बाद की है। गीतावली और रामचरितमानस दोनों में यही बात दिखाई देती है। इन अवसरों पर गोसाईंजी ने लंबे लंबे सांग रूपक बड़ी धूमधाम से बाँधे हैं। मानस का रूपक प्रसिद्ध ही है। गोसाईंजी की कारीगरी के उदाहरण में एक और रूपक यहाँ दिया जाता है—

'मुद मंगलमय संत-समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू॥
राम भगति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा॥
बिधि निषेध मय कलि-मल हरनी। करम-कथा रबिनंदिनि बरनी॥
हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी॥
बट बिस्वासु अचल निज धरमा। तीरथराज समाज सुकरमा॥
सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥
अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥
सुनि समुझहिं जन मुदित मन, मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु, साधु-समाज प्रयाग॥'

गीतावली के अंत में तो गोसाईंजी ने लंबे लंबे साग रूपकों में नख शिख ही वर्णन किया है। नख शिखकार तो नायिकाओं का नख-शिख वर्णन करते हैं, परंतु गोसाईंजी ने रामचंद्र का नख शिख वर्णन किया है। उसमें राम का मुख, उनकी बाँहें, उनके हाथ पाँव सभी अंगों का आलंकारिक भाषा में वर्णन है।

गोसाईंजी के अलंकारों के विषय में इतना और ध्यान रखना चाहिए कि वे जहाँ परिश्रम-प्रभव भी हैं वहाँ भी अवसरानुकूल भावना के उत्पादन में सहायक होते हैं और, जैसा पीछे दिखला चुके हैं, रूपाकार का यथातथ्य चित्रण तो इनके अलंकारों की विशेषता है ही—

'कंबु कंठ, भुज बिसाल, उरसि तरुन तुलसि माल,
मंजुल मुक्तावलि जुत जागति जिय जोहै।
जनु कलिंद नंदिनिमनि इंद्रनील सिखर परसि,
धँसति लसति हंस स्रेनि संकुल अधिकोहै॥'

इस उत्प्रेक्षा में रामचंद्रजी के शरीर की तुलना नीलम के पहाड़ से, तुलसी-माला की यमुना से और मणियों की हंसों से बहुत उत्तम बनी है, क्योंकि रूप-सादृश्य तो उसमें है ही, अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों एक समान ही हमारी मृदुल भावनाओं के आकर्षक भी हैं—

इसी प्रकार, रामचंद्रजी के मस्तक पर—

'चारु चंदन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहार।'

में 'चंदन' और 'नीहार' भी एक समान ही मधुर भावनाएँ जागरित करते हैं।

कला की सौंदर्य-वृद्धि में कारीगरी के पूर्ण साहचर्य का उत्कृष्ट उदाहरण बरवा रामायण प्रस्तुत करती है। इस अपूर्व ग्रंथ में अलंकार-योजना भाव-व्यंजना के इतने अनुकूल हुई है कि अलंकारों की ओर एकाएक ध्यान नहीं जाता। किंतु भाव की गहराई तक

पहुँचने के लिये जब अलकारों को खोलना पडता है तब पद पद पर उनकी बहुलता देखकर आश्चर्य चकित हो जाना पडता है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श मे ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति मे जितनी सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य मे सफलता भी होगी। जो लोग अर्थ को वक्रोक्ति की भूलभुलैयाँ मे छिपा रखने ही मे अपनी कृतकार्यता समझते हैं उनकी रचनाएँ सदा के लिये भविष्य की चीजे बनी रहेंगी। वह भविष्य कभी वर्तमान मे परिणत न होगा। हाँ, कला की भूमि मे भी गूढ अभिव्यजनावादियों का अलग ही ताल्लुकदारी मडल बाँध लिया जाय तो उनकी रचनाओं को सदा ही वर्तमान की वस्तु समझिए, यद्यपि उस वर्तमान का जनसाधारण के वर्तमान से कोई सबध न होगा। परतु गोसाईंजी ने सदैव जन साधारण के वर्तमान को दृष्टि-पथ मे रखकर लिखा है। उन्होंने जो कुछ कहा है सीधे ढँग से कहा है। अलकारों की योजना उन्होंने अर्थ को केवल शब्द गुफन मे छिपाने के लिये नहा बल्कि भाव की ओर भी स्पष्ट अभिव्यजना करने के लिये की है। गोसाईंजा की पक्तियों मे साधारण प्रत्यक्षार्थ को छोडकर गूढार्थ की खोज करना कला के उपर्युक्त उद्देश्य का विरोध करना है, जिसने गोसाईंजी को रामचरित लिखने की अत -प्रेरणा की थी।

कला के इसी उद्देश्य ने गोसाईंजी को सस्कृत का विद्वान् होने पर भी उस देववाणी की ममता छोडकर जनवाणी का आश्रय लेने के लिये बाध्य किया था। सस्कृत, जिसमें अब तक राम-कथा मरचित थी, अब जन-साधारण की बोलचाल की भाषा न रहकर पडितों के ही मडल तक बँधी रह गई थी। इससे रामचरितमानस का आनदपूर्ण लाभ सर्व-साधारण न उठा सकते थे। इसी से गोस्वामीजी को

भाषा मे रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई, पर पडित लोगों मे उस समय भाषा का आदर न था। भाषा कविता की ये हँसी उडाते थे।

'भाषा भनिति मोरि मति भोरी। हँसिबे जोग हँसे नहि खोरी।'

परतु गोसाईंजी ने उनकी हँसी की कोई परवा नहीं की, क्योंकि वे जानते थे कि वही वस्तु मानास्पद है जो उपयोगी भी हो। जो किसी के काम न आवे उसका मूल्य ही क्या?

'का भाषा का ससकिरत प्रेम चाहियतु साँच।
काम जो आवइ कामरी का लै करै कमाँच॥'

अतएव उन्होंने भाषा ही म कविता की और रामचरित को देश भर मे घर घर पहुँचाने का उपक्रम किया।

उस समय काव्य की प्रचलित भाषा ब्रजभाषा थी। वैष्णवों ने इसी को अपनाया था। सूरदासजी ने सूरसागर के पद इसी भाषा म रचे थे। गोस्वामीजी ने पहले इसी में फुटकर रचना करना आरभ किया। उन्होने गीतावली, विनयपत्रिका और कवितावली का अधिक अश ब्रजभाषा मे ही लिखा है, परतु ब्रजभाषा फुटकर छदों के ही लिये उपयुक्त थी, उसमे अभी तक कोई प्रबध-काव्य नहा लिखे गए थ। अतएव जब वे रामचरित को प्रबध रूप मे लिखने बैठे तब उन्ह दूसरी भाषा ढूँढने की आवश्यकता हुई। जब हम देखते है कि आगे चलकर जिन जिन लोगों ने ब्रजभाषा मे प्रबध काव्य लिखने का प्रयत्न किया वे सब असफल रहे तब हमे गोसाईंजी के ब्रजभाषा मे प्रबध काव्य न लिखने के निर्णय का औचित्य जान पडता है। ब्रजविलास आदि प्रबध काव्य कभी जनता में सर्वप्रिय न हुए। अतएव अपने प्रबध-काव्य के लिये गोसाईंजी ने अवधी को ग्रहण किया जिसे प्रेम मार्गी कहानी-लेखक सूफी कवि कहानियों के लिये भली भाँति माँज चुके थे। अवधी की ओर गोसाईंजी की रुचि के और भी कारण थे। वह स्वय उनकी बोली थी और उस प्रांत की भी बोली थी

जहाँ उनके इष्ट का जन्म हुआ था। गोसाईंजी के पहले चार पाँच आख्यानक काव्य अवधी में लिखे जा चुके थे। कोई तीस वर्ष पहले जायसी ने पद्मावत की कहानी लिखकर अपनी प्रेमपुष्ट वाणी का चमत्कार दिखलाया था। गोसाईंजी ने उन्हीं का अनुसरण किया। जानकी मंगल, पार्वती मंगल, बरवै रामायण आदि ग्रंथों की रचना भी उन्होंने अवधी ही में की।

इस प्रकार गोसाईंजी ने दो भाषाओं में कविता की। इन दोनों भाषाओं को संस्कृत की परिपक्व चाशनी की पाग देकर उन्होंने उन्हें अद्भुत मिठास प्रदान की है। इन दोनों भाषाओं पर उनकी रचनाओं से इतना अधिकार दिखाई देता है कि जितना स्वयं सूरदासजी का व्रजभाषा पर और जायसी का अवधी पर न था। इन दोनों लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों ने व्याकरण का गला दबाकर शब्दों के ऊपर खूब अत्याचार किया है। परंतु गोसाईंजी ने व्रज भाषा और अवधी दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्ण रूप से निर्वाह किया है। भाषा शैथिल्य तो उनकी रचनाओं में कहीं मिलता ही नहीं है। एक भी शब्द उनमें ऐसा नहीं मिलता जो भरती का हो। प्रत्येक शब्द पूर्ण भाव-व्यंजक होकर अपने अस्तित्व की सप्रयोजनता को प्रकट करता है।

अपने समय की प्रचलित काव्य-भाषाओं ही पर नहीं, उस समय तक प्रचलित काव्य शैलियों पर भी उनका प्रभुत्व लक्षित होता है। विषय के अनुकूल उनकी शैली भी बदलती जाती है। गीतावली और विनयपत्रिका में सूरदास की गीत पद्धति का अनुसरण किया गया है। उनमें भारतीय संगीत की भिन्न भिन्न राग-रागिनियाँ गृहीत की गई हैं। कवितावली में भाटों की परंपरा के अनुसार फुटकर सवैए और कवित्त कहे गए हैं। जब उनके समय के कवियों को साधारण राजाओं के भाट बनने में लज्जा न आई तब वे अपने सर्वस्व जगदाधिप श्रीराम की उमरदराजी कहने में क्यों लजाते? विरुदा-

वली और वीरोत्साहवर्धिनी दोनों प्रणालियों का, जिनके लिये सवैए, घनाक्षरी और छप्पय विशेषकर उपयुक्त ठहरते हैं, कवितावली म प्रश्रय मिला है। रामचरितमानम म जायसी के अनुकरण पर प्रबंध-काव्य के अनुकूल दोहे चौपाइयों का अनुक्रम रखा गया है। चौपाई और बरवै अवधी के खास अपने छद हैं। बरवै में भी गोसाईंजी ने रामचरित का वर्णन किया है, परतु एक स्वतत्र ग्रथ में, रामचरितमानस के अतर्गत नहा। रामचरितमानस मे बीच बीच मे त्रिभगी, हरिगीतिका, तोटक, सोरठा आदि लने छोटे छद रखे गए हैं। परतु यह वहा पर किया गया है जहाँ पर कथा प्रबंध के प्रवाह मे कुछ थमाव आवश्यक था, जैसे किसी देवता की प्रार्थना मे अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य अवसर पर, किंतु और जगह नहीं। अब रह जाती है नीति-काव्य के रचयिताओं की विदग्ध-वचनावली सिद्ध प्रणाली जिसके साथ दोहों का कुछ अटूट सबध सा हो गया है। उस पर गोसाईंजी ने स्वतत्र रचना भी की है और उसके लिये यत्र-तत्र प्रबध के बीच मे भी जगह निकाल ली है। दोहावली और सतसई ऐसे ही पद्यों के सग्रह हैं, जो कुछ तो मानस आदि ग्रथों से सगृहीत हैं और शेष स्वतत्र रचनाएँ हैं। क्लिष्ट-कल्पना-जन्य कूट कविता शैली को तो हम भूल ही गए थे। परतु गोसाईंजी उसे भी न भूले। सतसई मे उन्होंने ऐसी जटिल रचनाएँ की हैं जिनका अर्थ करने के लिये बडी खींचातानी करनी पडती है और तब भी अनिश्चय बना ही रहता है। ऐसी रचनाएँ प्रशसनीय नहीं कही जा सकतीं, चाहे वे गोसाईंजी की ही रची क्यों न हों। हाँ, गोसाईंजी की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करनी चाहिए कि उन्होंने इस प्रकार की रचनाओं के लिये ऐसे विषय को चुना और इस प्रकार से इस प्रणाली का उपयोग किया कि अर्थ के अनिश्चय मे भी अनर्थ की सभावना नहीं रहती। प्रत्येक दोहे मे स्पष्ट ही किसी की वदना

का गई है। यह भी पाठक जानता है कि राम अथवा राम से सबध रखनेवाले किसी व्यक्ति की वदना होगी। कूट से वही नाम निकालने के लिये पाठक को अपना मस्तिष्क लगाना होता है। अब यदि गोसाईंजी का अभिप्राय राम की वदना से था और पाठक न भरत की वदना समझी या गोसाईंजी ने एक प्रकार से किसी कूट का अर्थ राम वदना से लिया और पाठक ने दूसरे प्रकार से तो उसम क्या बिगाड हो गया। बैजनाथजी और निहारीलालजी चौबे की टीकाएँ इस बात की साची हैं।

सच्चेप मे तल्लीनता, प्रबध पटुता, रचना-चातुर्य, भाषा सौष्ठव, रस परिपाक, अलकार-योजना आदि चाहे जिस दृष्टि से देख गोसाईंजी मे हम सब दशाओ मे कला का अन्यतम उत्कर्ष पाते है। जहाँ कहीं हम उन्हें देखते हैं, वहाँ हम उन्हें सर्वोपरि देखते है। पहले से दूसरा स्थान भी उनका कहीं नहीं दिखाई देता और काव्य-साहित्य का ऐसा कौन चेत्र है जहाँ हम उन्हें नही देखते? वास्तव मे हिंदी भाषा का सपूर्ण वैभव से पूर्ण शक्ति का साच्चात्कार गोसाईंजी मे ही होता है। परतु हिंदी के होकर वे केवल हिंदुस्तान के ही नहीं रहे, बल्कि अपनी अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण समस्त ससार के हो रहे हैं। एक न माने जानेवाले पूर्व और पश्चिम भी उनकी प्रशंसा करने के लिये एक हो रहे है। देश और काल का अतिक्रमण करनेवाली उनकी प्रतिभा के मूल मे उनकी आत्म विस्मृतिकर तल्लीनता ही है, इसी लिये उनकी कृतियों म कला को वह उत्कर्ष प्राप्त हुआ है जिसे देखकर 'हरिऔध' जी की सार्थक वाणी मे अपना स्वर मिलाते हुए, हमे भी यही कहते बनता है कि—

'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।'

---

(१२) व्यवहार-धर्म

गोसाईंजी आर्य सस्कृति के परम भक्त थे। उसकी रत्ता उनके जीवन का सर्वोच्च ध्येय था। रामचरित के द्वारा उन्होंने उसका आदर्श स्वरूप खडा कर दिया है जिसके सहारे हिंदू आज भी आर्य बना हुआ है। मनुष्य मनुष्य का ऐसा कोई सवध नहा जिसका हमारे लिये गोसाईंजी ने आदर्श न स्थापित कर दिया हो। व्यक्ति, परिवार, समाज, राज्य—गोसाईंजी की लेखनी ने सबका सामजस्य विधान हिंदू सस्कृति के अनुरूप ही किया है। पाश्चात्य सभ्यता मे व्यक्ति का परिवार से, परिवार का समाज से और समाज का राज्य से सघर्ष दृष्टिगोचर होता है। परतु हमारी सस्कृति के अनुसार इन भिन्न भिन्न मडलों का ध्येय यह नहीं है। इसके विपरीत हमारे यहाँ प्रत्येक बडा मडल अपने से छोटे मडल का क्रमश निकसित रूप है। व्यक्ति परिवार मे, परिवार समाज मे और समाज राज्य मे विकसित हुआ है। हमारी सभ्यता की विशेषता उत्सर्ग है। व्यक्ति को परिवार के लिये, परिवार को समाज क लिये और समाज का राज्य के लिये उत्सर्ग करना पडता है। उत्सर्ग ही मे मनुष्य की मनुष्यता है। पशु उत्सग नहीं कर सकता। इसी से पशु मे समाज और राज्य की स्थापना नहीं हुई। रामचरितमानस मे इस उत्सग से उत्कर्ष प्राप्त सस्कृति का सौंदर्य खूब प्रस्फुटित हुआ है। दशरथ के परिवार का प्रत्येक व्यक्ति सारे परिवार की सुख-शांति के लिये अपने अपने सुखों का त्याग करने के लिये प्रस्तुत है और इस सारे परिवार का त्याग मिलकर समाज और राज्य का कल्याण करता है। कैकेयी की दुर्मति इसी त्याग के सौंदर्य का दिखलाने का कारण होकर स्वय भी धन्य हो गई है। इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति समाज

के सामने कोई न कोई आदर्श उपस्थित करता है। दशरथ सत्य-प्रतिज्ञता और पुत्र-प्रेम के, राम पितृ भक्ति के, भरत भ्रातृ भक्ति के, लक्ष्मण अपूर्व सहन शक्ति के, कौशल्या प्रेममयी माता का और सीता पति परायणा पत्नी का आदर्श हैं। कैकेयी भी जगत् के सामने एक आदर्श रखती है, वह है पश्चात्ताप का आदर्श। यदि किसी व्यक्ति से अपराध हो जाय तो वह भी कैकेयी के ऐसा पश्चात्ताप करके अपने जीवन को पावन कर सकता है। पिता पुत्र का, भाई-भाई का, पति-पत्नी का जो मधुर और आदर्श सबध इस परिवार मे देखने को मिलता है, उसमे उत्सर्ग का—त्याग का—सौंदर्य खिल उठा है।

यह उत्सर्ग भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिकता का द्योतक है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को परिवार से समाज और समाज से राज्य मे लय करते हुए अत मे उसे विश्वात्मा में लय करने का पाठ सीखता है। भारतीय समाज व्यवस्था के आधार स्तभ वर्णव्यवस्था धर्म और आश्रम-धर्म हमारी सस्कृति के इसी आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर सकेत करते हैं। इस व्यक्ति-स्वातत्र्य के युग मे लोगों को वर्ण व्यवस्था म अन्याय और अत्याचार दिखाई देता है। व समझते है कि इससे वैयक्तिक स्वातत्र्य के लिये स्थान नहीं रह जाता, समाज मे असाम्य का प्रचार होता है और प्रकृति के अनुकूल स्वाभाविक विकास का मार्ग रुँध जाता है। एस लोग भारतीय सस्कृति को भौतिकवाद की दृष्टि से देखते हैं, परतु भारतीय सस्कृति का विकास भौतिकता की लीक पर नहीं हुआ है। व्यक्ति-स्वातत्र्य उसका लक्ष्य है, परतु वह व्यक्ति स्वातत्र्य भौतिकवाद के व्यक्ति-स्वातत्र्य की भाँति व्यक्ति को ससार में बाँधनेवाला नहीं, बल्कि उससे सर्वथा स्वतत्र कर देनेवाला है। गोसाईंजी ने वर्ण-व्यवस्था को इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए देखा है, इसी लिये वे उसके कट्टर पक्षपाती हुए हैं। वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक उद्देश्य समझने के लिये उसे आश्रम-धर्म के योग में देखना

चाहिए। उससे अलग उसकी व्यवस्था ही नहीं की गई है। इस दृष्टि से देखने से पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति में भौतिकता आध्यात्मिकता के विरोध में नहीं बल्कि उसकी सहकारिता में आई है। गृहस्थाश्रम, जिसमें भौतिकता का पूर्ण किंतु संयत विकास दिखाया गया है, आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचानेवाले आश्रम-धर्म की सीढ़ी का एक डंडा मात्र है। भौतिक जीवन के पथ-बाहुल्य जनित अनिश्चय तथा छीना-झपटी में पड़कर मनुष्य अपने पारमार्थिक उद्देश्य को न भूल जाय, इसलिये सामाजिक जीवन में उसका क्या भाग होगा, यह उसके लिये पहले ही से निश्चित कर दिया गया है। यही वर्ण व्यवस्था है जिसमें गुणानुसार कर्मों का विभाग किया गया है। परंतु मनुष्य के गुण परिस्थिति के परिणाम होते हैं और परिस्थितियाँ जन्म से ही अपना प्रभाव डालना आरंभ कर देती हैं। इससे जन्म से ही वर्ण भी माने गए। अपवाद प्रत्येक नियम के होते हैं, परंतु वे नियम के विरोध में खड़े नहीं हो सकते।

चारों वर्णों में जिस क्रम से भौतिकता का अंश कम और आध्यात्मिकता का अधिक है उसी क्रम से उनको महत्त्व भी अधिक दिया गया है। इसी क्रम से निम्न स्थानवालों का अपने से ऊपरवाले वर्णों के प्रति आदर प्रदर्शन करना कर्तव्य है। ब्राह्मणों को भौतिक सुख का त्याग कर ज्ञान और विद्या की रक्षा तथा वृद्धि करनी पड़ती है। इसी लिये वर्ण विभाग में उनका सर्वोच्च स्थान है। गोसाईंजी ने जटायु से राम के द्वारा इस संबंध में जो यह उपदेश दिलाया है—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।

मोहिं समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'

वह इसी लिये है।

क्षात्र धर्म यद्यपि स्थूल बाहु-बल पर अवलंबित है, परंतु उस स्थूल बल का प्रदर्शन बिना आत्म-बल के नहीं हो सकता, क्योंकि

उसके साथ साथ प्राण-हानि की आशंका बनी रहती है, बल्कि न्यायपूर्वक रणभूमि मे प्राणोत्सर्ग करना ही क्षत्रिय अपना धर्म समझता है। इसलिये ब्राह्मणो के अनतर क्षत्रियो का पद आता है। वाणिज्य और सेवा धर्म मे उतने त्याग की आवश्यकता नहीं पडती। कम आध्यात्मिकतावाले वर्णो को अधिक आध्यात्मिकतावाले वर्णो के प्रति आदर-बुद्धि रखने का नियम निरर्थक सामाजिक नियम नहीं है। हमारी जातिगत आध्यात्मिकता की रक्षा के लिये यह सर्वथा आवश्यक था। बिना उसके कम आध्यात्मिकतावाले वर्णो के लिये आश्रम धर्म बेकाम हो जाता, वानप्रस्थ और सन्यस्ताश्रम से वे कोई लाभ न उठा सकते। आध्यात्मिकता के लिये इसी आदर बुद्धि का प्रसाद है कि अधिकाधिक भौतिकता-मय जीवन बिताते हुए भी वे सर्वथा भौतिकता मे फँस नहीं जाते और अत मे वानप्रस्थ के द्वारा सन्यस्ताश्रम मे वे ब्राह्मणों के साथ समानता प्राप्त कर सकते हैं। इस दृष्टि से गोसाईंजी का यह मत—

'सापत ताड़त परप कहता। विप्र पूज्य अस गावहिं संता॥'

अपने वास्तविक रूप में प्रकट होगा और सर्वथा उचित जान पडेगा।

ब्राह्मण पूज्य और रक्षणीय इसलिये हैं कि वे हमारी सस्कृति के भांडार हैं। उनकी रक्षा से सस्कृति की रक्षा है और उनकी पूजा मे हमारी सस्कृति का आदर है।

आध्यात्मिक दृष्टि से किसी वर्ण का औरों स ऊँचा मानने का यह अभिप्राय नहीं है कि औरों के साथ समाज मे ऐसा व्यवहार किया जाय कि उन्हें पद पद पर यह विभेद खटकता रहे। वास्तव मे आध्यात्मिकता के प्रति आदर-दृष्टि रखनेवाले किसी भी अर्थ मे नीचे नहीं हो सकते। यदि आध्यात्मिकता के श्रेणी-विभाग मे ऊपरवाले वर्ण अपने से निम्न वर्णो को घृणा की दृष्टि से देखे अथवा उन्हें अस्पृश्य समझे तो उनकी आध्यात्मिकता का मूल्य हो ही

चाहिए। उससे अलग उसकी व्यवस्था ही नहीं की गई है। इस दृष्टि से देखने से पता चलेगा कि भारतीय संस्कृति में भौतिकता आध्यात्मिकता के विरोध में नहीं बल्कि उसकी सहकारिता में आई है। गृहस्थाश्रम, जिसमें भौतिकता का पूर्ण किंतु संयत विकास दिखाया गया है, आध्यात्मिक विकास के शिखर पर पहुँचानेवाले आश्रम धर्म की सीढ़ी का एक डंडा मात्र है। भौतिक जीवन के पच-बाहुल्य जनित अनिश्चय तथा छीना-झपटी में पड़कर मनुष्य अपने पारमार्थिक उद्देश्य को न भूल जाय, इसलिये सामाजिक जीवन में उसका क्या भाग होगा, यह उसके लिये पहले ही से निश्चित कर दिया गया है। *यही वर्ण व्यवस्था है जिसमें गुणानुसार कर्मों का विभाग किया गया* है। परंतु मनुष्य के गुण परिस्थिति के परिणाम होते हैं और परिस्थितियाँ जन्म से ही अपना प्रभाव डालना आरंभ कर देता हैं। इससे जन्म से ही वर्ण भी माने गए। अपवाद प्रत्येक नियम के होते हैं, परंतु वे नियम के विरोध में खड़े नहीं हो सकते।

चारों वर्णों में जिस क्रम से भौतिकता का अंश कम और आध्यात्मिकता का अधिक है उसी क्रम से उनको महत्त्व भी अधिक दिया गया है। इसी क्रम से निम्न स्थानवालों का अपने से ऊपरवाले वर्णों के प्रति आदर प्रदर्शन करना कर्तव्य है। ब्राह्मणों को भौतिक सुख का त्याग कर ज्ञान और विद्या की रक्षा तथा वृद्धि करनी पड़ती है। इसी लिये वर्ण-विभाग में उनका सर्वोच्च स्थान है। गोसाईंजी ने जटायु से राम के द्वारा इस संबंध में जो यह उपदेश दिलाया है—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहिं समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'

वह इसी लिये है।

क्षात्र धर्म यद्यपि स्थूल बाहु-बल पर अवलंबित है, परंतु उस स्थूल बल का प्रदर्शन बिना आत्म-बल के नहीं हो सकता, क्योंकि

नीच जाति का था परन्तु इसलिये कि ऐसा करने से पिता की वनवास की आज्ञा का भंग होता। ऊँच और नीच के बीच का सबसे मृदुल उदाहरण चित्रकूट में वसिष्ठ निषाद-मिलन है—

'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।
राम-सखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥'

यदि केवट विनय का अवतार है तो वसिष्ठ स्नेह के। स्वयं गोसाईंजी ने अयोध्या के एक खुदडे (मेहतर) को प्रेम विवश होकर आलिंगन किया था।

हाँ, गोसाईंजी को अवश्य ही वर्ण-व्यवस्था का अतिक्रमण असह्य था। वे यह नहीं देख सकते थे कि शूद्र ('बैठि बरासन कहहिं पुराना') व्यास गद्दी पर बैठकर कथा बाँचा करें या जनेऊ देते फिरें। ये उनके कर्म विभाग के बाहर की बातें हैं। तुलसीदासजी का आदर्श समाज वह है जिसमें लोग प्रेम-बंधन में बँधकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करते हुए अपने अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहें। गोसाईंजी का विश्वास है कि ऐसे समाज में अवश्य सुख शांति का साम्राज्य होगा। इसमें कभी रोग, शोक और भय नहीं व्याप सकेंगे, क्योंकि ये मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं जो केवल उलटी जीवन पद्धति के फल हैं—

'वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय सोक न रोग॥'

यहाँ पर एक और जटिल समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोसाईंजी पर शूद्रों के साथ साथ स्त्रियों पर अन्याय करने का अपराध लगाया जाता है। परंतु जिस व्यक्ति को स्त्री के ही मुख से भगवत्प्रेम की दीक्षा मिली हो वह भला कैसे स्त्री वर्ग के ऊपर अन्याय कर सकता था। 'हम तो चाखा प्रेमरस, पतिनी के उपदेस', यह गोसाईंजी ने स्वयं कहा है। गोसाईंजी ने उन पर अन्याय किया भी नहीं है। 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी'

क्या सकता है ? खटकनेवाला भेद इस देश में था यदि यह बात होती तो रोम के प्लाबियन विद्रोह की भ यहाँ भी शूद्र विद्रोह होते। आजकल शूद्रों का समाज में है उसमें शूद्र विद्रोह प्रचंड रूप धारण किए हुए हैं। उस खटकता इसलिये नहीं कि उसने रूप ही दूसरा पकड़ा है धर्म परिवर्तन, जो विद्रोह से भी भयकर है। विद्रोह एक रक्षा का प्रयत्न करता है, परिवर्तन अंग विच्छेद की ओर गोसाईंजी ने जिस समाज की सृष्टि की है उसके आदर्श से इस स्थिति का परिहार हो सकता है, क्योंकि उसमें ऊपर आजकल की भांति अन्याय नहीं होता था। गा शूद्रों को मंदिर-प्रवेश का अधिकार दिया है। जनमत भयौं पाई,' इस प्रकार अपने शूद्र-जन्म की कथा कहते हुए का गरुड से कहते हैं—'एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिवना

उस समाज में शूद्र ब्राह्मणों से मंत्र दीक्षा भी पा स काक भुशुंडि कहते हैं—

'बिप्र एक बैदिक सिव पूजा। करै सदा नहिं काज न दूज
संभु मंत्र मोहि द्विज वर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्ह

काकभुशुंडि के साथ एक, और दूसरे विद्यार्थियों के साथ व्यवहार न होता था, क्योंकि भुशुंडि को—

'बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं'।

छूत के भाव का उस समाज में सर्वथा अभाव है। गु राम के आने का समाचार पाकर उनके दर्शनार्थ आता है उसे नीच जाति का समझ दूर ही से नहीं मिलते हैं, पास कर उससे कुशल-प्रश्न करते हैं—

'पूछी कुसल निकट बैठाइ।'

गुह का आतिथ्य राम ने इसलिये नहीं अस्वीकार किया।

नीच जाति का था परंतु इसलिये कि ऐसा करने से पिता की वनवास का आज्ञा का भग होता। ऊँच और नीच के बीच का सबसे मृदुल उदाहरण चित्रकूट में वसिष्ठ-निषाद-मिलन है—

'प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि ते दंड प्रनामू।
राम-सखा ऋषि बरबस भेंटा। जनु महि लुटत सनेह समेटा॥'

यदि केवट विनय का अवतार है तो वसिष्ठ स्नेह के। स्वय गोसाईंजी ने अयोध्या के एक चुहडे (मेहतर) को प्रेम विवश होकर आलिगन किया था।

हाँ, गोसाईंजी को अवश्य ही वर्ण व्यवस्था का अतिक्रमण असह्य था। वे यह नहीं देख सकते थे कि शूद्र ('बैठि बरासन कहहिं पुराना') व्यास गद्दी पर बैठकर कथा बाँचा करें या जनेऊ देते फिरें। ये उनके कर्म विभाग के बाहर की बातें हैं। तुलसीदासजी का आदर्श समाज वह है जिसमे लोग प्रेम-बंधन में बँधकर वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए अपने अपने कर्तव्य पर दृढ रहें। गोसाईंजी का विश्वास है कि ऐसे समाज में अवश्य सुख शांति का साम्राज्य होगा। उसमे कभी रोग, शोक और भय नहीं व्याप सकेंगे, क्योंकि ये मानसिक अवस्थाएँ मात्र हैं जो केवल उलटी जीवन पद्धति के फल हैं—

'वर्णाश्रम निज निज धरम, निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहि भय सोक न रोग॥'

यहाँ पर एक और जटिल समस्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। गोसाईंजी पर शूद्रों के साथ साथ स्त्रियों पर अन्याय करने का अपराध लगाया जाता है। परंतु जिस व्यक्ति को स्त्री के ही मुख से भगवत्प्रेम की दीक्षा मिली हो वह भला कैसे स्त्री वर्ग के ऊपर अन्याय कर सकता था। 'हम तो चाखा प्रेमरस, पतिनी के उपदेस', यह गोसाईंजी ने स्वय कहा है। गोसाईंजी ने उन पर अन्याय किया भी नहीं है। 'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी'

करते समय उनका अभिप्राय यह नहीं था कि उन्हें बिल्कुल बाँध ही दिया जाय, प्रत्युत समाज शास्त्र की दृष्टि से यह कहकर उन्होंने स्त्रियों के महत्त्व को स्वीकार किया है। एक ही स्त्री माता, पत्नी, वधू आदि कई रूपों में, कई प्रेम-सूत्रों से, परिवार को एक में बाँध रखती है। अतएव उसका पारिवारिक विचारों को छोड़कर इधर उधर की बातों में बहक जाना समाज के बंधनों को ढीला करना है। स्वच्छंदता केवल स्त्रियों के ही लिये बुरा नहीं है, पुरुषों के लिये भी बुरी है। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वच्छंद हो जाय तो स्वतंत्रता कहीं नाम को भी न मिले। विशेष अवस्थाओं में जब कि शुद्ध भाव से आंतरिक प्रेरणा हो रही हो तब सब बाधक बंधनों को तोड़ डालने का अधिकार वे स्त्रियों का भी मानते हैं। जो 'राम वैदेही' के विमुख हों उन्हें 'त्यागिय कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही' यह उपदेश उन्होंने मीराबाई को दिया था। इस प्रकार उन्होंने स्त्री को पुरुष से किसी भी दशा में नीचा स्थान नहीं दिया है। उनकी राक्षसियाँ भी धर्म परायणा, नीति निपुणा और भक्त हैं। मंदोदरी नीति निपुणा विदुषी, त्रिजटा भक्ति परायणा और सुलोचना धर्मप्राणा पतिव्रता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनके सबसे आदर्श पुरुष पात्र राम ने बालि को, जिसे उनकी ओर से कुछ भी खटका नहीं था, छिपकर मारा और एक शब्द भी पश्चात्ताप का कभी उनके मुँह से नहीं निकला। किंतु कैकेयी राम को वनवास दिलाने के कारण जन्म भर अनुताप में घुलती रही, यद्यपि उसके पास अपने काम को संगत ठहराने का कारण था। अभिषेक के लिये वह समय चुना गया था जब भरत राजधानी में नहीं थे। सात दिन तक अभिषेक की तैयारियाँ होती रहीं, परंतु कैकेयी के कानों तक खबर न गई। गोसाईंजी पर स्त्रियों पर अन्याय करने का दोषारोपण करना स्वयं गोसाईंजी के साथ अन्याय करना है। वास्तव

मे स्त्री के ऊपर ऐसा अन्याय जो अप्रतिकार्य हो उनसे देखते नहीं बनता था। राम के द्वारा सीता का अकारण त्याग उन्हें नहीं रुचा। पहले उन्होंने उसके परिहार का प्रयत्न किया। अध्यात्म-रामायण के अनुकरण पर गीतावली में उन्होंने राम से अपने पिता की आयु भोगवाई जिससे सीता के त्याग के लिये शील का अनुरोध भी एक कारण हुआ। अपने पिता की आयु भोगते हुए भी सीता का सहवास राम के लिये अनुचित होता। परंतु इससे भी गोसाईं-जी को शांति न मिली। अपने रामचरितमानस मे, जिसमे उन्होंने लोक धर्म का चित्र खींचा है, राम को सीता पर यह अन्याय करने से बचाने के लिये लंका विजय के अनंतर अयोध्या में राम के अभिषेक पर ही उन्होंने रामायण की कथा समाप्त कर डाली है।

स्त्री की जो कहीं कहीं उन्होंने निंदा की है, वह वास्तव मे स्त्री की न होकर स्त्री पुरुष के कामुक संबंध की है। दोनों वर्गों के परस्पर संपर्क में यह एक ऐसी निर्बलता का स्थल है जिसके संबंध से सतर्क रहने का उपदेश देना गोसाईंजी अपना कर्तव्य समझते थे। तुलसीदासजी जिस वेद-विहित व्यापक धर्म के प्रतिपादक हैं उसमे पत्नी का महत्त्व पति से कम नहीं है। पति यदि स्वामी है तो पत्नी भी स्वामिनी है। स्वामी और दासी मे सव्य सेविका का संबंध भले ही हो जाय किंतु वे परस्पर प्रेमी नहीं हो सकते। प्रेम उस चंचल भाव का भी नाम नहीं है जो मुँह से—

'अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यंति कुलस्त्रियः।'

कहनेवाले अर्जुन को जहाँ कहाँ पहुँचे वहाँ जैसे बन पड़े ब्याह पर ब्याह करने को बाध्य करता था। बहुविवाह से समाज को जो हानि हो सकती है वह कैकेयी के सामने दशरथ की परवशता तथा उस अन्याय मे प्रकट है जो दशरथ को राम पर करना पड़ा। जैसे पत्नी के लिये पतिव्रता होना धर्म है वैसे ही पति के लिये भी

एकपतिव्रत रहना परम धर्म है। कुलस्त्रियों का प्रदूषित होना पुरुषों के प्रदूषित होने न होने पर निर्भर है। स्त्रियों के साथ अन्याय करना ही अधर्म है। उसके बाद कुल, जाति, देश वा 'धर्मो सनातन' का जो कुछ न हो जाय वही थोडा है। राम और सीता के रूप मे स्त्री पुरुष की समता का आदर्श सामने रखकर तुलसीदासजी ने समाज के लिये कल्याण का राज पथ खोल दिया है।

इस समता मे आजकल की वह स्वार्थमय सकीर्णता नहा है जो अपने लिये अलग अधिकार ढूँढती है, प्रत्युत वह विशालहृदयता है जो एक दूसरे के लिये अपने आपको उत्सर्ग कर देने के लिये प्रस्तुत रहती है और यही उत्सर्ग भारतीय सस्कृति की विशेषता है।

राजनीति भी समाज शास्त्र की एक शाखा है। किसी भी सामाजिक व्यवस्था के सफल होने के लिये अनुकूल राजा और शासन प्रणाली अपेक्षित है। राजा की सबसे बडी शक्ति प्रजा की अनुरक्ति है। शासन प्रणाली और राजा का यही प्रयोजन है कि प्रजा को सुख शांति मिले। जिस शासन प्रणाली और जिस राजा से यह न हो वह निष्प्रयोजन ही नहीं, निंदनीय भी है—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥'

अब तक कई शासन प्रणालियों की व्यावहारिक प्रयोग से जाँच हो चुकी है परतु आधुनिक प्रणालियों में से कोई ऐसी नहीं देखी जाती जो शासितों को सर्वथा सतुष्ट कर सकी हो। प्रजासत्तात्मक शासन प्रणाली से, जो बीसवीं शताब्दी की विशेषता है, जगत् का असतोष दिन प्रति दिन बढता जा रहा है। मुस्लिम-सभ्यता के काल में 'डिमाक्रेसी' का अर्थ ही हुल्लडशाही था। एकतत्र शासन मे भी प्रजा सुख से रह सकती है और प्रजातत्र में भी प्रजा पर घोर अन्याय हो सकता है, यह बात इतिहास से भी सिद्ध है। प्रतीच्य ज्ञान के उन्मेषक यवन दार्शनिक स्वतत्र चितन से इस परिणाम पर पहुँचे थे

कि प्रजा की सुख शाति के लिये ऐसा राजा चाहिए जिसकी मनोवृत्ति दार्शनिक हो। उनकी खोज का लक्ष्य 'फिलासफर किंग' था। किंतु जो सुकरात इस दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण राज पद के ठीक योग्य था उसी को यवनो की हुल्लडशाही ने विष-पान कराकर मार डाला। गोसाईंजी भी इस बात को जानते थे कि राजा में तितिक्षा और दार्शनिक मनोवृत्ति आवश्यक गुण हैं। जो इन गुणों से विहीन होते हैं वे राजशक्ति का दुरुपयोग करने लगते हैं—

'सहस्रबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥'

कुछ तो हमारे यहाँ ब्रह्मचर्याश्रम के नियम ही ऐसे हैं कि उनके अनुसार शिक्षा-दीक्षा से राजकुमारो की मनोवृत्ति कुछ दार्शनिक और उत्सर्गमयी हो जाती है। उसके अनतर भी राजाओ को विरक्त ऋषि-मुनियों की अनुमति के अनुसार कार्य करना पडता था। डाक्टर भगवानदास अपनी स्वराज्य-योजना मे व्यवस्थापको मे विरक्त सन्यासियों को रखकर प्रजासत्तात्मक प्रणाली मे इसी दार्शनिक तथा उत्सर्ग-मूलक तत्त्व को ले आने का प्रयत्न कर रहे हैं। रामचरितमानस मे अयोध्या मे हम गुरु वसिष्ठ की अनुमति के अनुकूल राज्य शासन का सचालन देखते हैं। साथ साथ अमात्य और सचिवों की मत्रणा को तो सहायता लेनी ही पडती है। ये मन्त्रिगण भी निधडक बोलनेवाले होने चाहिएँ, क्योंकि—

'सचिव वैद्य गुरु तीन जो, प्रिय बोलहि भय आस।
राज धरम तनु तीन कर, होहि बेग ही नास॥'

राम मे हमे ठीक एक दार्शनिक तितिक्षु राजा के दर्शन होते हैं जिसकी तितिक्षा कर्तव्य की विरोधिनी नहीं है। इसी लिये उनके राज्य में राजनीति की परमावधि देखने को मिलती है—

'राम राज सुनियत राजनीति को अवधि
नाम राम! रावरे तौ घाम की घलाइहौ।'

इसी लिये—

'दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम-राज नहिं काहुहि ब्यापा॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीती॥
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन-हीना॥'

आजकल की तरह राजनीति में व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में भेद नहीं था। राजा का जीवन प्रजा के सामने एक खुला पुस्तक के समान होता था। राजा के आदर्श जीवन का ही अनुसरण प्रजा भी अपने जीवन में करती थी। राजा यदि कोई अनुचित कार्य करे तो प्रजा को उसे टोकने का अधिकार होना चाहिए, राजा को इस बात का ध्यान रहता था। रामचंद्र ने भरी सभा में 'गुरु द्विज पुरवासी सब' से कहा था—

'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजेहु भय बिसराई।'

राजा जब धर्म पर दृढ़ था तभी प्रजा भी धर्म निरत थी।

राजा की तितिक्षा के माने यह नहीं हैं कि वह निर्बल हो। निर्बल की तितिक्षा का मूल्य ही क्या हो सकता है? जो प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता वह त्याग क्या करेगा? राजा में बाहुबल और आत्मबल दोनों का सामंजस्य होना चाहिए। इसी प्रकार शासन प्रणाली में भी यह चाहिए। बिना शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के आध्यात्मिक उन्नति कष्ट-साध्य ही नहीं, असंभव भी है। राम में हम आध्यात्मिक बल के साथ साथ पराक्रम भी देखते हैं। जिस रघुनंदन की मुखांबुज-श्री—

'प्रसन्नतां या न गताभिषेकत
तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः॥'

उसी को हम महापराक्रमी रावण का दमन करते हुए देखते हैं। शासन प्रणाली में जहाँ प्रजा की सुख-शांति का ध्यान रखा जाता है, वहाँ इस हित-संपादन के लिये राजा के पास सैन्य शक्ति के साथ साथ

अर्थ शक्ति भी चाहिए। यह अर्थ-शक्ति कर के ही द्वारा आ सकती है। परंतु इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि कर देना प्रजा को खटके नहीं। इस विषय में सूर्य का उदाहरण गोस्वामीजी राजाओं के सम्मुख रखते हैं। सूर्य किस समय और कैसे पानी को पृथ्वी से खींच लेता है, यह कोई नहीं देख पाता, किंतु उसका वर्षा ऋतु में चराचर सृष्टि के लाभ के लिये बरसना सब देखते हैं।

'बरसत हरखत लोग सब, करखत लखत न कोइ।
तुलसी भूपति भानु सम, प्रजा भाग बस होइ॥'

राजा को इस रीति से कर उगाहना चाहिए कि प्रजा को उसका देना जान न पड़े—यह आजकल का 'इंडाइरेक्ट टैक्सेशन' है—और फिर कर-रूप में आए हुए इस धन को राजा अपने विलास में नहीं किंतु प्रजा की ही भलाई के लिये प्रकट रूप से व्यय करे। निस्संदेह ऐसी शासन प्रणाली में प्रजा नितांत संतुष्ट रहेगी, जैसा कि हम राम-राज्य में देखते हैं। क्योंकि—

'सुप्रभु प्रजाहित लेहिं कर सामादिक अनुमान।'

भोज्य पदार्थों का ग्रहण तो मुख करता है, किंतु पुष्ट होते हैं शरीर के सब अंग। राज्य रूप शरीर का मुँह रस है। उसे भी प्रजा-रूप विभिन्न अंगों के पोषण के लिये ही कर-रूप भोजन लेना चाहिए—

'मुखिया मुख सो चाहिए खान पान को एक।
पालइ पोषइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥'

इन सब बातों का जहाँ पालन हो वह राम राज्य है, जिसमें गोसाईंजी ने एकता के साथ प्रजातंत्र का समन्वय किया है और सुराज्य के साथ स्वराज्य का। इसी से वह हिंदू-जाति के स्मृति-पटल पर अमिट रूप से अंकित हो गया है।

---

(१३) तत्त्व-साधन

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक प्रवृत्ति, जिसका दर्शन हम व्यवहार धर्म के अंतर्गत कर चुके हैं, इस भावना पर स्थित है कि सारी सृष्टि का उद्भव एक ही उद्गम से है, एक ही के अनेक रूप यह दृश्यमान सृष्टि है और अनेकता के मूल मे इसी एकता की अनुभूति हमारे अस्तित्व का साफल्य है। "एक सद्विप्रा बहुधा वदति" यह वेदों ने उद्गीरित किया। इसी के सुर मे अपना आलाप मिलाकर उपनिषदों ने तादात्म्य की अनुभूति का सवेग प्रवाह बहाया। इसी आलाप का स्वर-समाहार भगवद्गीता मे हुआ। गोसाईजी की कृति मे भी इसकी गूँज सुनाई देती है। इनकी काव्यसरिता की—

> 'तरल तरग सुछद थर हरत द्वैत-तरु मूल ।
> वैदिक लौकिक विधि बिमल, लसत बिपद बर कूल ॥'

यही कारण था कि सब जड चेतन सृष्टि को राममय मानकर प्रणाम करना उन्होंने आवश्यक समझा—

> 'जड चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि ।
> बंदौं सबके पद-कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥'

कण कण में, परमाणु परमाणु में वे राम की विद्यमानता का अनुभव करते थे। अपने लिये रहने का उपयुक्त स्थान पूछने पर वाल्मीकि ने राम से कहा था—

> 'पूछेहु मोहि कि रहहुँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ ।
> जहँ न होहु तहँ देहुँ कहि, तुम्हहि देखावउँ ठाउँ ॥'

यह विश्व विस्तृत सृष्टि उस सूक्ष्म का विराट् रूप है, अव्यक्त का व्यक्त शरीर है—

'विश्वरूप रघुबसमनि, करहु बचन-बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर, अंग अंग प्रति जासु ॥
पद पाताल सीस अजधामा । अपर लोक अँग अँग बिस्रामा ॥
भृकुटि बिलास भयंकर काला । नयन दिवाकर कच घनमाला ॥
जासु घ्रान अस्विनीकुमारा । निसि अरु दिवस निमेष अपारा ॥
स्रवन दिसा दस बेद बखानी । मारुत स्वास निगम निज बानी ॥
अधर लोभ जम दसन कराला । माया हास बाहु दिगपाला ॥
आनन अनल अंबुपति जीहा । उतपति पालन प्रलय समीहा ॥
रोमराजि अष्टादस भारा । अस्थि सैल सरिता नस-जारा ॥
उदर उदधि अधगो जातना । जगमय प्रभु का बहु कलपना ॥
अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान ।
मनुज बास चर अचर-मय, रूप राम भगवान ॥'

इसी दृष्टि से उसी सत् की प्रातिभासिक सत्ता होने के कारण संसार सत्य है, अन्यथा वह सर्वथा असत्य है। राम से अलग उसकी सत्ता ही नहीं है।

राम के बाहर उसकी अलग सत्ता समझना अज्ञान है माया है, सीपी मे चाँदी का भास होना है और सूर्य की किरणों मे पानी का भ्रम है—

'रजत सीप महुँ भास जिमि, जथा भानु रवि बारि ।'

एक मात्र सत्तत्त्व राम है, वही सत्य है। उसके अतिरिक्त जो कुछ दिखाई देता है, वह सब माया है, झूठ है—

'गो गोचर जहँ लग मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥'

राम की ही सत्यता से अज्ञान के कारण दृश्य संसार की अलग सत्ता सी जान पड़ती है—

'जासु सत्यता ते जड़ माया । भास सत्य इव मोह सहाया ॥'

माया दो दृष्टि-कोणों से देखी जा सकती है। एक से वह विद्या कहाती है और दूसरे से अविद्या। एक ओर वह राम की शक्ति है जिससे वह सृष्टि की रचना करती है, दूसरी ओर वह प्रचड शक्ति है जो जीव को भ्रम मे डाले दबाए रहती है—

'एक रचे जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥'

विनयपत्रिका मे गोसाईं जी ने माया का यह द्वैध स्वरूप और भी अच्छी तरह स्पष्ट किया है—

'केसव कहि न जाइ का कहिए ?
देखत तव रचना बिचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटै न मरै भीति-दुख पाइय यहि तनु हेरे॥
रबिकर निकर बसे अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसे चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै॥'

एक दृष्टि से देखने से माया सत्य है, दूसरी दृष्टि से देखने से झूठ है। राम के साथ माया सत्य है, जीव या सृष्टि के साथ झूठ है। परतु उसे न सच कह सकते हैं, न झूठ, क्योंकि जब वह सच है तब अपने बल पर नहीं (नहिं निज बल ताके), राम के बल पर (प्रभु प्रेरित)। साथ ही, वह झूठ भी नहीं, क्योंकि उसे राम का बल है और आपेक्षिक दृष्टि मे वह अपना बल जीवों पर दिखाती है। सच-झूठ दोनो एक साथ कहना ठीक न होगा क्योंकि यह प्रत्यक्ष विरोध प्रदर्शित करता है। इसलिये शास्त्रों में इसे 'सदसद्विलक्षणा'— सत्य और झूठ दोनों से विलक्षण—कहा है। ऊपर के पद के अंतिम दो चरणों में यही बात गोसाईंजी ने भी कही है।

गोसाईंजी के मायावाद और जगद्गुरु शंकराचार्यजी के मायावाद में भेद दिखाई देता है। शंकराचार्यजी माया का अस्तित्व ही नहीं मानते, परंतु गोसाईंजी राम के बल पर उसका अस्तित्व मानते है। शंकर के लिये रचना भ्रम मात्र है, तुलसी के लिये वह एक तथ्य है। राम के अस्तित्व में उसका अस्तित्व है। वह शक्ति बीजरूप से राम में विद्यमान है और वही सृष्टि का मूल कारण है। बिना उसके ब्रह्म पर एकोऽहं बहु स्याम् का आरोप नहीं हो सकता। एक बार मिलान हो जाने पर फिर आगे के लिये सृष्टि का द्वार वही खुला रखती है। ब्रह्म मे माया भी समाहित है, यद्यपि ब्रह्म से अलग उसकी सत्ता नहीं। उनकी कल्पना मे सीता राम की शक्ति रूप माया है। जगत् को राममय कहने मे उनका तात्पर्य सीताराममय कहने से है। राम केवल—

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥'

ही नहीं हैं, मायाधिपति भी हैं।

'सोइ राम व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय-पति माया धनी।'

एकाध स्थल पर उन्होंने स्पष्ट भी कहा है—

'सीय राममय सब जग जानी। करउं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

राम से अलग माया की सत्ता मानना ही सब बंधनों का कारण है। मनुष्य को बाँधनेवाला कर्म-सूत्र इसी से निकलता है। मनुष्य के जितने उलटे आचरण हैं सबका मूल कारण भिन्नता में अभिन्नता न देख सकना है। संसार में अपनी इस मूल-एकता का ज्ञान न रहने से ही प्रेम का अभाव होकर वैमनस्य का प्रकांड तांडव दिखाई दे रहा है। इसी से सब मोह मद मत्सर क्रोध का कारण यही अज्ञान है। यही लोगों को हिंसा की ओर प्रेरित करता है—

'जाइ मान सो दइ है, मान दइ नहि होय।
तुलसी जो छवि पाइहै, सो निरदय नहि होय॥'

माया और ब्रह्म की भिन्नता में जब अभिन्नता का ज्ञान हो जाता है तब यह बधन स्वत टूट जाता है। अज्ञान की अवस्था से ज्ञान की अवस्था मे आना ही मोक्ष का मार्ग है। परतु कहने में यह जितना सरल लगता है साधन मे उतना ही कठिन है।

हमारे यहाँ मोक्ष तक पहुँचने के तीन मार्ग माने गए हैं, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग और ज्ञान-मार्ग। समन्वित विचार-धारा के अनुसार, जिसके गोसाईंजी प्रतिनिधि हैं, ये तीनों मार्ग अलग अलग नहीं बल्कि एक ही मोक्ष मार्ग के अलग अलग मिलान हैं। साधारणत भक्ति से उनका अभिप्राय कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों योगों के समन्वित रूप से है। लक्ष्मण को भक्ति-योग समझाते हुए वे अपना अभिमत सक्षेप मे यो देते हैं—

'धर्म ते विरति जाग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥'

धर्म से यहाँ अभिप्राय व्यवहार धर्म या कर्म मार्ग से है और जोग से भक्ति-योग से। आगे जो उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या की है उससे यह प्रकट है—

'प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज धरम निरत स्रुति रीती॥'

यह कर्म-योग है जो गोसाईंजी के अनुसार मोक्ष मार्ग का प्राथमिक आवश्यकता है। कर्म से उन्होंने केवल यज्ञ-याग का अर्थ नहीं लिया है। वह नित्य प्रति के व्यवहार क्षेत्र के बृहद् यज्ञ से सबध रखता है। रामचरितमानस के रामादि पात्रों ने अपने कर्त्तव्य-मय जीवन से कर्मयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया है। बिना पहले सामाजिक मर्यादा का पालन किए आभ्यतरिक सयमों का निर्वाह नहीं हो सकता। आंतरिक सयम के लिये पहले बाह्य नियमन आवश्यक है। बिना इसके सब भक्ति और ज्ञान व्यर्थ जायगा—

'यहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
स्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा॥'

यह भक्ति-योग है। भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति होती है—

'गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥'

मोक्ष तो ज्ञान ही से प्राप्त होगा परंतु ज्ञान भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिए। सीधे बिना भक्ति के सहकार के ज्ञान की प्राप्ति असंभव चाहे न हो, पर दुष्कर अवश्य है—'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा'। ज्ञान अव्यय, निर्विकल्प, चिन्मय, मन और बुद्धि से अगम्य निर्गुण रूप का होता है और भक्त भगवान् के सगुण स्वरूप को सम्मुख रखता है। बिना हृदय के सहकार के इंद्रियों को उनके विषयों से अलग कर ज्ञान-मार्ग पर चलना खड्ग की धार पर चलना है—

'ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'

ज्ञान-मार्ग में सब रागात्मिका वृत्तियों का विरोध अपेक्षित है परंतु भक्ति-मार्ग में उनके लिये उन्मुक्त प्रवाह की व्यवस्था है, यद्यपि एक ही दिशा में फिर भक्ति के बिना ज्ञान का कुछ भरोसा नहीं। क्योंकि यदि वह रसना तक का ज्ञान हुआ तो वह भी और स्थूल रसों की तरह जिह्वा का एक रस ही होगा, जो दंभ की उत्पत्ति का कारण होगा। वाचक ज्ञानी से अज्ञानी लाख दर्जे अच्छा है क्योंकि वह समाज का पिष्ट खल तो नहीं करता। वैसे तो रावण भी ज्ञानी था। जब उसके बंधु पुत्रादि कुटुंबी जन रणक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हो गए—

'तब रावन बिबिधि बिधि, समुझाई सब नारि।
नस्वर रूप जगत सब, देखहु हृदय बिचारि॥'

परंतु उसका ज्ञान दूसरों को ही उपदेश देने के लिये था, उससे उसने स्वयं कोई लाभ न उठाया। सीता के रूप पर मोहित होकर

वह उसे दूर लाया था। एक बार ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी यह न समझ रखना चाहिए कि आगे के लिये अज्ञान के बधन सर्वथा टूट ही गए हैं। जब तक कर्मों का कुछ भी फल भोगने को शेष है तब तक भविष्य के लिये बधन सूत्रों की उत्पत्ति की भावना बनी ही रहती है, यह गोसाईंजी का मत था—

'प्रभु माया बलवत भवानी। जाहि न मोह कौन अस ज्ञानी॥'

लोमश ऋषि यद्यपि परम ज्ञानी थे फिर भी उनका मोह दूर न हो पाया था। उनके बार बार निर्गुण ज्ञान का उपदेश देने पर भी जब भुशुडि ने निर्गुण मत की महत्ता स्वीकार न की और वह हठपूर्वक सगुण मत का प्रतिपादन करता रहा तब वे क्रोध से उबल पडे और उन्होने उसे कौआ हो जाने का शाप दे दिया। लोमश भी मोह से परिच्छन्न थे, फिर चाहे वह ज्ञान का ही मोह क्यों न हो। भक्ति शुष्क ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इस बात पर गोसाईंजी ने बार बार जोर दिया है। अपने इष्ट देव के सुदर गुणों पर जब भक्त की दृष्टि ठहर जाती है तब अपनी वृत्तियों को अन्य विषयों से लपेटने मे उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पडता, परतु ज्ञानी को स्वय अपने बल पर खडा होना होता है। राम के मुँह से गोसाईंजी ने भक्तों को जो नीचे लिखा आश्वासन दिलाया है वह इसी आधार पर—

'भजहि न मोहि तजि सकल भरोसा।
करौं सदा तिनकै रखवारी। जिमि बालकहि राख महतारी॥'

शिशु का प्रत्येक क्रिया को माता देखती रहती है, और उसे प्रत्येक विघ्न से बचाती रहती है। परतु बालक जब बडा हो जाता है और उसे स्वय बोध होने लगता है तब माता उसके विषय में इतना चिंता नहीं रखती।

'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥

ग्यान, विराग, जोग बिग्याना। ये सब पुरुष सुनहु हरि जाना ॥
माया भगति सुनहु तुम दोउ। नारिवर्ग जानहि सब कोऊ ॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ॥'

कहकर भी गोसाईंजी ने भक्ति के इसी महत्त्व को दूसरे प्रकार से व्यक्त किया है। भक्ति को स्त्री इसलिये कहा है कि उसमें स्त्री की भाँति पूर्ण आत्मसमर्पण कर देना होता है और ज्ञान में आत्मानुभूति की आवश्यकता होती है। आत्म समर्पण में मृदुलता और आत्मानुभूति में कठोरता है।

परंतु यह महत्त्व पारमार्थिक नहीं है, केवल लोकोपयोगिता की दृष्टि में रखने से है। जैसे व्यवहार-धर्म में गोसाईंजी पारमार्थिक तत्त्व को नहीं भूलते वैसे ही तत्त्व-साधन में भी वे लोक की ओर दृष्टि रखकर चलते हैं। 'अंतरजामी' से 'बाहरजामी' को, राम से नाम को, ज्ञान से भक्ति को बड़ा कहने में यही रहस्य है और 'राम ते अधिक राम कर दासा' कहने मे भी यही बात है परंतु वास्तव में बाहरजामी इसी लिये बड़ा है कि वह 'अंतरजामी' तक पहुँचाने का साधन है। नाम का यही महत्त्व है कि वह राम का ज्ञान कराता है, भक्ति का इसी में साफल्य है कि उससे ज्ञानोत्पादन होता है, राम के मार्ग में राम का दास हमारा आदर्श रहता है। वह बाल्यावस्था किस काम की जिसके बाद प्रौढावस्था ही न आवे? वह भक्ति भी किस काम की जो ज्ञान में परिणत न हो? मोक्ष-मार्ग में भक्ति स्त्री के ज्ञान-पुरुष में परिवर्तित हुए बिना काम नहीं चल सकता। जब तक यह अवस्था नहीं आती तब तक मनुष्य काल के पाश से बच नहीं सकता। जब आत्म-विस्मृति के द्वारा आत्मानुभूति हो जाती है तभी काल के बंधन कट सकते हैं—

'कबहुँक दरसन संत के पारस मनी अतीत।
नारी पलट सो नर भया लेत प्रसादी सीत ॥

तुलसी रघुवर सेवतहि, मिटिगो कालोकाल।
नारी पलट सो नर भया, ऐसो दीन दयाल ॥'

यदि ऐसा न हो तो 'सेव्य सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ऐसा भक्ति सेव्य-सेवक भाव हो सकती है परन्तु उससे कोई तर नहीं सकता। बिल्कुल ही निरवलवता का भाव न इहलोक के लिये हितकर है और न परलोक के लिये। "जनहि मोर बल निज बल ताही" में 'निज बल' और 'मोर बल' एक ही वस्तु के द्योतक हैं। यदि भक्त इस भावना की ओर अग्रसर नहीं होता तो समझना चाहिए कि उसकी भक्ति, भक्ति नहीं बेगार है। 'पावहु ज्ञान भगति नहि तजहीं' से स्पष्ट है कि ज्ञान भक्ति ही का फल है। फलागम के पीछे भी इसका साहचर्य गोसाईंजी उसकी दृढ अवस्थिति के लिये आवश्यक समझते हैं।

गोसाईंजी की रचनाओं मे पद पद पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि उन्होंने भक्ति योग से केवल प्रपत्ति-मार्ग अथवा शरणागति का अर्थ नहीं माना है। इस भाव के साथ साथ उनकी भक्ति मे ज्ञान भी मिश्रित है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उनकी भक्ति ज्ञान-गर्भित है। भक्ति योग पर एक पद मे उन्होने कहा है—

'रघुपति भगति करत कठिनाई।
कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जहि बनि आइ ॥'

यह रेत में से शक्कर को अलग करना है। इस कला मे निपुणता प्राप्त करने के लिये चींटी बनना आवश्यक है।

'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।
सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैत वियोगी।

आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकार के भक्तों का वर्णन करते हुए गोसाईंजी ने स्पष्ट शब्दों मे कह दिया है कि भगवान् को ज्ञानी भक्त सबसे अधिक प्रिय लगता है—

'चहुँ चतुर कहँ नाम पियारा। ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा॥'

भक्ति सगुण से निर्गुण तक पहुँचाने का साधन है। परमात्मा की जो माया हमे बधन मे डाले हुए है वही हमारा उस बधन से छुटकारा भी करेगी। भगवान् यद्यपि लीला के लिये भी निर्गुण से सगुण होते है तथापि उस लीला मे निष्ठुरता नहीं। उसमे हमारे त्राण का साधन विद्यमान है। 'नाम' और 'रूप' उपाधियाँ परमात्मा मानों हमारे प्रति दयालु होकर ही धारण करता है। ये ही उपाधियाँ हमे सगुण से निर्गुण तक ले जाती हैं। ये दुभाषियों का काम करती हैं। वे सगुण भाषा म हमे निर्गुण ज्ञान का उपदेश देकर हमारे हृदय मे उसकी परम अनुभूति कराती है—

'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥'

आँखों मे सतत राम का रूप और जिह्वा पर निरतर राम का नाम रखने से स्वत हृदय मे गिरा-गोतीत ब्रह्म की अनुभूति होती है—

'हिय निरगुन नयननि सगुन रसना नाम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥'

परतु तादात्म्य की अनुभूति के लिये यह आवश्यक है कि सगुण की यह सेवा निष्काम हो। जब तक मनुष्य पूर्ण रूप से इच्छारहित न हो जाय तब तक उसे मुक्ति नहा मिल सकती—

'जहा राम तहँ काम नहि, जहाँ काम नहि राम।
तुलसी कबहूँ होत नहि, रवि रजनी इक ठाम॥'

भक्ति के फल की ओर थोडी सी भी दृष्टि जाने स उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। अर्थार्थी भक्त को गोसाईंजी ने बहुत नीचा स्थान दिया है। गोसाईंजी के हृदय मे भक्ति की अनन्यता का प्रतीक चातक है—

'एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घनस्याम कहँ चातक तुलसीदास॥'

किंतु लोग समझते हैं कि चातक की भी कुछ माँग है, कवि परंपरा में वह स्वाती की बूँद की कामना से 'पी पी' पुकारता फिरता है। ऐसा चातक निष्काम भक्त की श्रेणी तक नहीं पहुँच सकता—

'माँगत डोलत है नहीं, तजि घर अनत न जात।
तुलसी चातक भगत की, उपमा देत लजात ॥'

यह बात ठीक है कि विषय के प्रति जो अनन्यता विषयी की होती है वही भक्त की अपने इष्ट के प्रति होनी चाहिए—

'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥'

परंतु उस प्रेम के साथ वासना-तृप्ति का लक्ष्य न होना चाहिए।

गोसाईंजी भी जिस चातक के प्रेम पर मोहित हैं उसे स्वाति बूँद की चाह नहीं। केवल प्रेम की प्यास है जो बढ़ती ही जाती है, बुझती नहीं—

'तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाँचत बारह मास ॥
चातक तुलसी के मते स्वातिहु पिए न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़त भली घटे घटेगी आनि ॥'

यदि मुक्ति की भी कामना हो गई तो भक्ति का उद्देश्य नष्ट हो गया। भक्त की वह भावना होनी चाहिए जो भक्ति को अपना उद्देश्य अपने आप समझती है—

'जिनके मन मगन भए हैं रस सगुन। तिनके लेखे कवन मुकति अगुन ॥'

ऐसा होने से मुक्ति अपने आप पीछे-पाछे लगी चलेगी—

'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरियाईं ॥'

लोक कल्याण की दृष्टि से सगुणोपासना के क्षेत्र में भक्ति का चरम उत्कर्ष अवतार-वाद की भावना में मिलता है। अवतार नाम और रूप की परम मनोहर और सुग्राह्य विभूति है, मुक्ति और

आसक्ति का समन्वय है। राम के शील, उनकी शक्ति और उनके सौंदर्य में असत् के विरुद्ध सत् के बलों को प्रेरित करने की भगवान् की पूर्ण होती हुई उस प्रतिज्ञा के दर्शन होते हैं जिसकी ओर गोसाईंजी ने गीता का अनुसरण करते हुए नीचे लिखी पंक्तियों में संकेत किया है।

'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हि असुर अधम अभिमानी।

× × × × ×

तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा॥'

अवतार की भावना के ही कारण मनुष्य के कार्यों में ईश्वर का हाथ दिखाई देता है, सत्प्रवृत्तियों के लिये दृढ़ आधार मिल जाता है, मनुष्यता को विकसित होकर ईश्वरीय विभूति में परिणत हो जाने का मार्ग खुल जाता है और दुःखवाद के अंधकार में पड़े हुए संसार पर मंगलाशा की ज्योति फैल जाती है जिससे उत्साहित होकर भक्त इहलोक तथा परलोक दोनों को एक ही युद्धक्षेत्र में जय कर सकता है।

(१४) व्यक्तित्व

गोसाईंजी की आकृति कैसी थी, उनका रूप रंग कैसा था, नाटे थे या लंबे, हृष्ट पुष्ट थे या दुर्बल, इसका हमें निश्चयपूर्वक कुछ भी ज्ञान नहीं है। "दयो सुकुल जन्म शरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को" के आधार पर उनके शरीर का सुंदर और सुडौल रचना हमने मानी है। परंतु यह भी हो सकता है कि गोसाईंजी अपने शरीर को सुंदर इसलिये समझते रहे हों कि वह धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों फलों का साधन था। उनके जो चित्र छपते हैं उनसे भी हमारा ज्ञान नहीं बढ़ सकता, क्योंकि उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। अब तक उनके दो चित्र मिले हैं। एक गंगाराम ज्योतिषीजी के उत्तराधिकारियों के यहाँ प्रह्लादघाट (काशी) पर है और दूसरा स्वर्गीय पंडा विंध्येश्वरीप्रसादजी के घर पर जो अस्सी (काशी) पर गोसाईंजी के अखाड़े के पास है। ये दोनों चित्र एक दूसरे से बिलकुल नहीं मिलते, यद्यपि दोनों वृद्धावस्था के ही जान पड़ते हैं। एक में वे बहुत दुर्बल दिखलाए गए हैं और दूसरे में बहुत स्थूल। आकृति में भी बहुत भेद है। अस्सीवाला चित्र डा० ग्रिअर्सन के प्रयत्न से पहले पहल खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर से प्रकाशित रामायण में छपा था। इस चित्र का कोई भी पुरावृत्त नहीं ज्ञात है। कुछ लोग इस चित्र को सुंदर मानते हैं, किस दृष्टि से, सो नहीं कहा जा सकता। यदि भारी भरकम शरीर होना सुंदरता का एक मात्र लक्षण हो तो यह चित्र भी गोसाईंजी को सुंदर प्रमाणित कर सकता है।

प्रह्लादघाटवाले चित्र के लिये कहा जाता है कि यह वही चित्र है जिसे जहाँगीर ने उतरवाया था। प्रह्लादघाट पर के तुलसीदासजी

के अखाड़े के उत्साही अधिकारी पंडित रणछोड़ व्यास ने इसी चित्र के आधार पर गोसाईंजी की एक संगमरमर की मूर्ति बनवाकर स्थापित की है। इस चित्र के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि यह उस समय का है जब गोसाईंजी बाहु-पीड़ा से ग्रस्त थे। इसी लिये इसमें एक हाथ पतला दिखाया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा से गोसाईंजी का जो चित्र प्रकाशित हुआ है वह इससे मिलता जुलता है। परंतु उसमें दोनों हाथ पतले बनाए गए हैं। संभवतः प्रतिलिपिकारों ने एक हाथ को दूसरे से पतला रखना मूल चित्रकार की असावधानी समझा हो। आजकल विद्वानों का मत इसी को असली स्वीकार करने की ओर है। जब तक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलते तब तक हमारी भी प्रवृत्ति इसी को प्रामाणिक मानने की होती है। तप और वार्धक्य से क्षीण होने पर भी गोसाईंजी इस चित्र में सुंदर दिखाई देते हैं।

गोसाईंजी की बाहरी रूपाकृति के विषय में चाहे हमारी धारणा अनिश्चय में फँसी हो परंतु उनके वास्तविक व्यक्तित्व के विषय में अनिश्चय का कोई स्थान नहीं। उनका हृदय एक खुली पुस्तक है। उनकी रचनाओं के द्वारा हम उनके हृदय में प्रवेश कर उनके व्यक्तित्व के उस रहस्यमय आकर्षण को समझ सकते हैं जिसके द्वारा आज हिंदुओं की ही नहीं मनुष्य-मात्र की श्रद्धा और भक्ति उनकी ओर खिंची जा रही है।

वे प्रकृति के सरल थे और शील के आगार थे। उनका शील, जिसकी आभा से रामचरितमानस भी अभिमंडित है, बाहरी शिष्टाचार मात्र नहीं है। वह उनके अस्तित्व का अभिन्नांश है, उनके हृदय का विभव है। राम के गुणों ने उनके हृदय में बैठकर सब दुर्गुणों और सांसारिक वक्रता के लिये अर्गला लगा दी थी। वैर और विरोध से वे दूर रहते थे।

'राम के गुलामन की रीति, प्रीति सूधी सब,
सब सो सनेह, सबही को सनमानिए ।'

प्राणिमात्र से उनके हृदय का लगाव था और सभी के हित-साधन को वे लक्ष्य में रखते थे। यही कारण है कि छोटे से छोटे और बडे से बडे के घर मे भी उनकी वाणी की गूँज सुनाई देती है। बाइबिल को छोडकर रामचरितमानस के समान सर्वप्रिय ससार में कदाचित् ही कोई दूसरा ग्रथ हो। वह भी इसी लिये कि उसे गोसाईं-जी ने सबके लिये सदा के लिये लिखा है। 'राममय' होने के कारण सबको वे सम दृष्टि से देखते थे। इसी सम दृष्टि में उनकी सहिष्णुता और क्षमाशीलता का भी रहस्य छिपा हुआ है। जब वे किसी अवस्था में भेद ही नहीं समझते थे तब किसी के उन्हें बुरा कहने पर वे बुरा भी कैसे मान सकते थे ? उनका जीवनोद्देश्य ही था—

'सील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय, मुख राम।
तुलसी रहिए यहि रहनि, संत जनन को काम॥'

इसका उन्होंने जीवन मे भली भाँति निर्वाह किया। वे उस अवस्था से बहुत ऊँचे उठ गए थे, जहाँ भले और बुरे का भेद लोगों को चचल कर देता है। कोई उनकी प्रशंसा करे अथवा निंदा इससे उन्हें कोई मतलब नहीं रहता था। उन्होंने अपने निंदकों को उद्देश्य करके स्वय कहा है—

'धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जात बिगार न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचे सो कहै कछु कोऊ।
माँगिके खैबो, मसीत को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ॥

कोऊ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।

साधु जानै महासाधु खल जानै महाखल,
बानी झूठी साँची कोटि उठत हबूब है॥
चहत न काहु सो, कहत न काहु को कछु
सबकी सहत उर अंतर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के,
राम की भगति भूमि मेरी मति दूब है॥'

साधु संतों को भला बुरा कहने से निश्चय ही लोग अपनी ही वास्तविकता का परिचय देते हैं—

'साधु कहै महासाधु खल कहै महाखल'

उससे संतों का कुछ बन या बिगड नहीं सकता। इसी से किसी निंदक की उन्होंने बुराई नहीं चाही। उनकी यही सहिष्णुता भिन्न भिन्न विरोधी धर्म सप्रदायों के सामंजस्य विधान में प्रतिफलित हुई। उनके ग्रंथों से यह बात स्पष्ट ही है कि वे स्मार्त वैष्णव थे। इसके साथ मध्याह्नव्यापिनी रामनवमी को उनके रामचरितमानस के प्रारंभ करने से यह बात और भी पुष्ट हो जाती है, क्योंकि स्मार्त वैष्णव ही मध्याह्न मे रामनवमी मानते हैं। साधारण मत से उदय-काल मे रामनवमी मानी जाती है। स्वयं वैष्णव होते हुए भी उन्होंने शैवों की निंदा नहीं की, बल्कि शिव और विष्णु दोनों की समानता का प्रतिपादन किया। वैष्णवों और शैवों का विरोध उन्हें अच्छा नहीं लगा। इस वैर को मिटाने के लिये उन्होंने शिव को राम का अनन्य भक्त और राम को शिव का उपासक बनाया। उनके राम ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि—'शंकर प्रिय मम द्रोही, शिव द्रोही मम दास' दोनों नरक के भागी हैं। जो एक का विरोधी हो वह दूसरे का भक्त नहीं हो सकता। राम-भक्त का यह लक्षण है कि वह शिव का भी सेवक हो।

"बिनु छल विश्वनाथ-पद-नेहू। राम भगत कर लच्छन एहू।"

एक कथानक तो उनको जैनों और हिंदुओं के बीच भी साम जस्य स्थापित करता सा दिखाता है। हिंदुओं के तो किसी भी देवता की उपासना को अथवा किसी भी सम्प्रदाय को उन्होंने अपने सामजस्य विधान के बाहर नहीं छोडा है। विनयपत्रिका मे उन्होंने गणेश, सूर्य आदि प्रत्येक देवता की वदना की है। यदि किसी मत से उनकी सामजस्य बुद्धि का विरोध हुआ तो वह वाम-मार्ग से। वह भी इसलिये कि वाम-मार्ग उन्हें समाज की मर्यादा का उल्ल घन करता हुआ दिखाई दिया—

'तजि श्रुति पथ वाम पथ चरहीं।
बंचक बिरचि भेष जग धरहीं॥'

× × × ×

'कौल काम वस कृपिन बिमूढा।'
'जीवत शव समान से प्राणी॥'

इसी प्रकार भूत प्रेत-पूजा को भी वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनके मत में भूत प्रेत पूजकों को बहुत नीच गति मिलती है। बात यह है कि जो व्यक्ति जिसकी उपासना करता है उसी तक उसकी गति होती है। इसी लिये गीता मे कहा है—

'श्रद्धामयोऽयं पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स।'

अपने से ऊपरवालों की पूजा करने मे तो कोई अर्थ है, उससे किसी सीमा तक उच्चरण ही होगा, अध पात नहीं। परतु जो लोग मनुष्यों से भी पतित भूत प्रेतों की पूजा करते हैं उनका अध पात निश्चित है। इसी लिये भरत कौशल्या के पास अपनी निर्दोषिता दिखलाने के लिये सौगध खाते हुए कहते हैं—

'जे परिहरि हरिहर चरन, भजहि भूत गन घोर।
तिन्ह कै गति मोहि देउ बिधि, जो जननी मत मोर॥'

अंध विश्वासों को पाखंड की वृद्धि में सहायक उपादान समझकर वे उनकी निंदा करते हैं—

लही आँखि कब आँधरे, बाँझ पूत कब ब्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

हाँ, यदि अंध विश्वास सात्त्विक वृत्ति के परिपोषक हों तो वे उन्हें हानिकर नहीं समझते। सात्त्विक वृत्ति के साथ विश्वास के संयोग से वे सब कुछ संभव समझते हैं। इसी लिये उन्होंने वणिक कमलभव को यह उपदेश दिया था कि यदि किसी ऊँचे पेड के नीचे त्रिशूल खडा कर पेड पर से उस पर कूद जाओ तो अवश्य तुम्हें परमात्मा के दर्शन होंगे। यदि कोई कहे कि राम नाम के प्रभाव से पत्थर पर कमल उग आया तो वे उसे सही स्वीकार करने में आनाकानी न करेंगे—'राम प्रताप सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जाम्यो।'[1] परंतु राम की करामात छोडकर जब जहाँगीर ने उनसे अपनी करामात दिखाने को कहा तो उन्होंने साफ कह दिया कि यह बात झूठ है कि मुझमें कोई करामात है। राम नाम के सिवाय मैं और कोई चमत्कार नहीं जानता—

'कही झूठ बात, एक राम पहिचानिए'—(प्रियादास)

क्योंकि जीवित मनुष्य के साथ अंध विश्वास के संयोग से पाखंड की वृद्धि होती है जिसके विरुद्ध गोसाईंजी जन्म भर लडते रहे। अवतार-वाद में भी, जो गोसाईंजी के सिद्धांतों का प्रधान आधार-स्तंभ है, मनुष्य की ही पूजा होती है सही, किंतु वह ईश्वरत्व के लिये किसी व्यक्ति की ओर से दंभ-पूर्ण दावा नहीं है। प्रत्युत मरण पर्यंत न्यायानुकूल व्यतीत किए गए जीवन के महत्त्व की समाज की ओर से श्रद्धामय स्वीकृति है। वह एक पुरस्कार है जो व्यक्ति को नहीं, उसकी स्मृति को ही मिल सकता है। उसका उपभोग करने के लिये व्यक्ति नहीं रहता, केवल उसका व्यक्तित्व रह जाता है। भक्ति के आवेश

मे इस सिद्धांत को भूलकर कहा कहा गोसाईंजी राम के मुँह से ईश्वरत्व का दावा करा गए हैं। भक्ति का यह आवेश केवल इसलिये क्षम्य कहा जा सकता है कि यह प्राकृत जन का गुण गान नहा है, इतिहास नहीं है, वरन् युगों पीछे उन्हे समाज के द्वारा ईश्वरत्व मिल जाने के बाद एक भक्त की भावना है। इसी बात से राम एक दभी राजा और तुलसीदास उनके चाटुकार कहे जाने से बच जाते हैं।

अपने प्रभु को जहाँ गोसाईंजी अधिक से भी अधिक महत्त्व देते हैं, वहाँ अपने लिये वे छोटे से छोटा स्थान ढूँढते हैं।

विनय के तो वे मानो अवतार ही थे। दभ उन्हें छू भी नहीं गया था। किस प्रकार छोटी अवस्था मे वे घर घर टुकडे माँगते फिरते थे, यह कहने मे उन्हे कोई सकोच नहीं हुआ—

'बारे ते ललात बिललात द्वारे द्वारे दीन
जानत हौ चारि फल चारिही चनक को।'

अपने प्रभु के सामने वार बार अपनी दीनता का वर्णन करते वे थकते ही नहीं थे। उत्कट कवि होते हुए भी वे अपनी गिनती कवियों मे नहीं करते थे—

'कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना॥
कवित बिबेक एक नहि मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे॥'

नम्रता के कारण वे अपने आपको सबसे निकम्मा समझते थे। बुरे लोगों में अपनी गिनती वे सबसे पहले करते हैं—

'बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धँधरक धोरी॥'

परतु क्या कभी वास्तविक हीन व्यक्ति के हृदय मे अपनी लघुता का इतना गहन और विशद अनुभव हो सकता है और जिसे यह अनुभव हो जाय वह क्या कभी लघु रह सकता है? इस 'लघुत्व' के सामने सारी महत्ता वार देने योग्य है।

परतु यह सहिष्णुता, क्षमाशीलता और विनय व्यक्तिगत साधना-क्षेत्र के अतर्गत है। जहाँ समाज की मर्यादा के भग होने का प्रश्न आता वहाँ गोसाईंजी उसे त्याग देते थे। वहाँ फिर वे 'शठे शाठ्य' की नीति का अवलंबन उचित समझते थे। 'कतहुँ सुधाइहु ते बड दोसू' कहकर उन्होंने इसी व्यावहारिक चातुर्य का अनुमोदन किया है। व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में पाखड फैलाकर जो लोग सामाजिक व्यतिक्रम का उपक्रम करते हैं उन्हें वे क्षमा नहीं कर सके। अलख को लखनेवालों के लिये उनके पास उपयुक्त सबोधन 'नीच' ही था—

'तुलसी अलखहि का लखै, राम नाम जपु नीच।'

उनकी विनय और लघुता की भावना ऐसी भी नहीं थी कि उनको पौरुषेय गुणों से दूर रखकर आत्म-सम्मान रहित बिल्कुल चाटुकार बना देती। ससार की कोई भी शक्ति उनको उस अवस्था में न डाल सकती जिसमें मनुष्य कहने लगता है—'हमहुँ कहब अब ठकुरसोहाती'। इसके विपरीत 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं' का उनका गहरा अनुभव हुआ था। भारत और भारतीय संस्कृति का, रामायण को वे जिसका सकलित सस्करण समझते थे, उन्हें औचित्यपूर्ण गर्व था। इसी संस्कृति ने भारत को अमर्त्य बनाया था—

'रामायण सिख अनुहरत जग भौ भारत रीति।'

विलासितामय विदेशी सस्कृति के अनुकरण में स्पर्धा दिखाते हुए प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य की अवहेलना करनेवाले भारतीय राजाओं के ऊपर उन्हें बडा तरस आता था। इसी लिये उन्हें वे जगलियों और गँवारों में गिनते थे—

'गोंड गँवार नृपाल महि जवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि केवल दड कराल॥'

(१५) अवसान

गोसाईंजी की मृत्यु के विषय में कुछ मतभेद है। उनकी रचनाओं से पता चलता है कि उनके समय में काशी में प्लेग हुआ था। काशी में इस महामारी का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है—

शंकर सहर सर नरनारि बारिचर,
बिकल सकल महामारी मांजा भई है।
उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात,
भभरि भगात जल थल मीचुमई है॥'

बेणीमाधवदास ने लिखा है कि जिस समय प्लेग हुआ था उस समय मीन का शनैश्चर उतर ही रहा था—

'उतर सनीचर मीन, मरी परी कासी पुरी।'

गोसाईंजी की निम्नलिखित पंक्ति से भी इसी बात की पुष्टि होती जान पड़ती है—

'एक तो कराल कलिकाल सूल मूल तामें,
कोढ़ में की खाज सनीचरी है मीन की।'

गोसाईंजी के जीवन काल में दो बार मीन का शनैश्चर पड़ा था। एक सं० १६४० से १६४२ तक और दूसरे सं० १६६९ से १६७१ तक। बेणीमाधवदास ने जिस स्थान पर इसका उल्लेख किया है, उसके समयानुक्रम से यदि देखा जाय तो यह घटना सं० १६४२ की ठहरेगी। परंतु ऐसा मानने से इतिहास से भी विरोध पड़ेगा और गोसाईंजी के कथन से भी। यह इतिहास सिद्ध बात है कि भारत में प्लेग पहले पहल जहाँगीर के समय में हुआ था। जहाँगीर सं० १६६२ में गद्दी पर बैठा था। दूसरे गोसाईंजी ने स्वयं कहा है कि—

'बीसी बिस्वनाथ की बिषाद बड़ो बारानसी,
बूझिए न ऐसी गति शंकर सहर की।'

तथा—

'अपनी बीसी आपने पुरहि लगायो हाथ।
केहि बिधि बिनती बिस्व की करौं बिस्व के नाथ॥'

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि मीन के शनैश्चर के साथ साथ उस समय रुद्रबीसी भी चल रही थी। ज्योतिष की गणना से रुद्रबीसी सं० १६६५ से १६८५ तक थी। अतएव यह परिणाम निकलता है कि सं० १६७१ में ही काशी में प्लेग हुआ होगा, क्योंकि उस समय मीन के शनैश्चर और रुद्रबीसी दोनों एक साथ ठहरते हैं। यह ठीक भी मालूम पड़ता है। इसके थोड़े ही समय पीछे संवत् १६७२-७३ में पंजाब में और सं० १६७४-७५ में आगरे में प्लेग का प्रकोप हुआ जिसका स्वयं जहाँगीर ने अपने ग्रंथ तुजुक जहाँगीरी में वर्णन किया है। प्रतिदिन सैकड़ों आदमी मर जाते थे। जिस घर में चूहा हो जाता था वह खाली ही हो जाता था। लोग घरबार छोड़कर भाग रहे थे, मुर्दों को उठाना या फेंकना तो रहा अलग, लोग जीवित रोगियों के पास भी न जाते थे। काशी में भी महामारी का ऐसा ही भयंकर प्रकोप हुआ था, यह गोसाईंजी के वर्णन से जान पड़ता है। इस रोग के शमन के लिए गोसाईंजी ने रामचन्द्रजी, शिवजी, हनुमानजी आदि देवताओं की प्रार्थना की है। कुछ लोगों का विचार है कि गोसाईंजी को भी प्लेग हो गया था और उसी रोग से उन्होंने प्राण विसर्जन किए। परन्तु उनके जो कवित्त इस मत के समर्थन में प्रस्तुत किए जाते हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि गोसाईंजी को प्लेग न होकर कोई दूसरा ही रोग हुआ था। उनको बहुत जोर का बाहु-शूल हुआ था। सम्भवतः यह [illegible] भुजा पर हुई थी, क्योंकि गोसाईंजी ने कहा है—

'बेदन कुभाँति सही न जाति राति दिन,
सोई बाँह गही जो गही समीर डावरे।'

वायुपुत्र हनुमान ने जो बाँह पकडी थी उसी मे पीडा थी। प्राय बाँह पकडनेवाला दाहिने हाथ से बाँह पकडता है और दूसरे आदमी की बाई ही भुजा पकडने मे सुबीता होता है। प्लेग का रोगी तो तीन ही चार दिन मे मर जाता है परतु इनको यह वेदना कई दिन तक रही—

'एते दिन तक रही पीर तुलसी के बाहु की।'

उस घोर पीडा से त्राण पाने के लिये इन्होंने हनुमानबाहुक की रचना की। बहुत विनय करने पर भी इन्हें कुछ आराम न हुआ। रोग बढता ही गया। उसने दूसरा रूप धारण किया। सारे शरीर पर बलतोड के से फोडे निकल आए और प्रत्येक अग दुखने लगा—

'पाँय-पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुँह पीर,
जर जर सकल सरीर पीर मई है।

× × × × ×

असन बसन हीन बिषम बिषाद लीन,
देखि दीन दूबरो करै न हाय हाय को ?
तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो,
दियो सील सिधु आपने सुभाय को॥
नीच यहि बीच पति पाइ भरुआइ गो,
बिहाय प्रभु भजन बचन मन काय को।
ताते तनु पेषियत घोर बरतोर मिस,
फूटि फूटि निरसत लोन राम राय को॥'

यहाँ तक पीडा बढी कि गोसाईजी के लिये जीवन भार-स्वरूप हो गया। मरने से वे डरते नही थे, परतु इस प्रकार झीखते हुए

दिन बिताना उन्हें अच्छा न लगता था इसलिये उन्होंने विश्वनाथजी से विनय की—

'अधिभूत वेदन विषम होत भूतनाथ,
तुलसी बिकल पाहि पचत कुपीर हौं।
मारिए तो अनायास कासीबास खास फल,
ज्याइए तो कृपा करि निरुज सरीर हौं॥'

परंतु जब वे सब देवताओं की प्रार्थना करके थक गए और कुछ भी फल न हुआ तब उन्होंने भी यह सोचकर संतोष किया और मौन हो रहे कि—

'तुम तें कहा न होय, हा हा ! सो बुझैये मोहि
हौं हूँ रहौं मौन ही, बयो सोइ लुनिए।'

परंतु उनकी प्रार्थना व्यर्थ न गई, यद्यपि उसका फल जरा देर से मिला और हनुमानजी ने द्रवित होकर उनको आराम कर दिया—

'खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड़ राकसनि,
केसरीकिसोर राखे बीर बरियाई है।'

अतएव यह निश्चय है कि गोसाईंजी की मृत्यु प्लेग से नहीं हुई। काशी में पहली बार के प्लेग के नौ वर्ष बाद सं० १६८० तक वे जीवित रहे और इसी साल असी गंगा के तट पर उनकी मृत्यु हो गई। किस रोग से उनका प्राणांत हुआ, यह नहीं मालूम है। वेणीमाधवदास ने इनकी मृत्यु का समय इस प्रकार दिया है—

'संवत् सोरह सौ असी असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि तुलसी तज्यौ शरीर॥'

परंपरा से भी लोगों की जबान पर यह दोहा बहुत काल से चला आता था। परंतु उसमें तीसरे चरण में 'श्रावण श्यामा तीज शनि' न होकर 'श्रावण शुक्ला सप्तमी' था। घाघ की घरेलू

कहावतों ने लोगों की स्मृति मे श्रावण के साथ शुक्ला सप्तमी का अभिन्न सबध स्थापित कर दिया है। इसी से सभवत मूल दोहे मे स्वत यह परिवर्तन हो गया। इसमे तो सदेह नहीं कि गोस्वामीजी की पुण्यतिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी न होकर श्यामा तीज ही है। इसी तिथि को गोसाईंजी के मित्र टोडर के वशज चौधरी श्री लाल बहादुरसिंह के यहाँ भी गोसाईंजी के नाम से ब्राह्मण को एक सीधा दिया जाता है। यह प्रथा उनके वश मे परपरा से चली आई है। वेणीमाधवदास ने तिथि के साथ मे वार भी दे दिया है जिससे इस तिथि की ज्योतिष की गणना से भी जाँच की जा सकती है। उस जाँच से भी यह ठीक ही ठहरती है। स्पष्ट मान से गणित करने पर यह तिथि शनिवार अँगरेजी तारीख ५ जुलाई १६२३ को १६ दड १२ पल निकली है।

यद्यपि गोसाईंजी को शरीर त्याग किए हुए तीन सौ से अधिक वर्ष हो गए हैं, तथापि अपने यशरूपी शरीर से वे अब भी जीवित हैं—

'जयति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा ।
नास्ति येषा यश काये जरामरणज भयम् ॥'

चाहे जिस सबध से गोसाईं तुलसीदासजी का नाम लिया जाय वह स्वत ही चमक उठता है। जब तक एक भी हिंदू इस पृथ्वीतल पर रहेगा तब तक वे और उनकी रचनाएँ अमर रहेंगी।

परिशिष्ट (१)

गोस्वामीजी का जीवन चरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम 'तुलसी चरित' है। यह बड़ा ही बृहत् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध,* (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा, इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की छंद-संख्या इस प्रकार लिखी हुई है— 'चौ०—एक लाख तैंतीस हजारा। नौ सै बासठ छंद उदारा।' यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन-चरित विषयक नित्य प्रति के मुख्य मुख्य वृत्तांत लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति नहीं होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवर-दासजी-विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह 'तुलसी चरित' बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय बृहत् ग्रंथ के 'अवध खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त होकर निकले तो रास्ते में रघुनाथ नामक एक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा—

गोस्वामीजी का वचन

चौपाई

काल अतीत यमुन तरनी के। रोदन करत चलेहुँ मुख फीके॥
हिय विराग तिय अपमित बचना। कठ मोह बैठो निज रचना॥
सींचत त्याग विराग बटोही। मोह गेह दिसि कर सत सोही॥
भिरे जुगल बल घरनि न जाहा। सदन वपू खेत वन माहीं॥
तिनिहूँ दिशा अपथ मति काटी। आठ कोस मिसिरा की पाटी॥

पहुँचि ग्राम तट सुतरु रसाला। बैठेहुँ देखि भूमि सुबिसाला॥
पंडित एक नाम रघुनाथा। सकल शास्त्रपाठी गुण गाथा॥
पूजा करत डरत मैं जाई। दंड प्रनाम कीन्ह सकुचाई॥
सो मोहि कर चेष्टा सनमाना। बैठि गयउँ महितल भय माना॥
बुध पूजा करि मोहि बुलावा। गृह वृत्तांत पूछब मन भावा॥

× × × × ×

जुवा गौर शुचि बढनि बिचारी। जनु निधि निज कर आपु सँवारी॥
तुम बिसोक आतुर गति धारी। धर्मशील नहिँ चित्त बिकारी॥
देखत तुम्हहिँ दूरि लगि प्रानी। अदभुत सकल परस्पर मानी॥
तात मात तिय भ्रात तुम्हारे। किमि न तात तुम्ह प्रान पियारे॥
कुटुम परोस मित्र कोउ नाहीं। किधौं मूढ पुर बास सदाहीं॥
सन्यपात पकरे सब ग्रामा। चले भागि तुम तजि वह ठामा॥
तब यात्रा बिदेश कर जानी। निदरि हृदय किमि मरे अयानी॥
चित्त वृत्ति तुव दुख मह ताता। सुनत न जगत व्यक्त सब बाता॥
मोते अधिक कहत सब लोगा। अजहुँ जुरे देखत तरु योगा॥
कहाँ तात ससुरारि तुम्हारी। तुम्हहि धाय नहिं गहे अनारी॥
जाति पाँति गृह ग्राम तुम्हारा। पिता पीठि का नाम अचारा॥

दोहा—कहहु तात दस कोस लगि, विप्रन को व्यवहार।
मैं जानत भलि भाँति सब, सत अरु असत विचार॥
चले अश्रु गदगद हृदय, सात्त्विक भयो महान।
भुवि नख रेख लग्यौ करन, मैं जिमि जड अज्ञान॥

चौपाई

दयाशील बुधवर रघुराई। तुरत लीन्ह मोहि हृदय लगाई॥
अश्रु पोंछि बहु तोष देवाई। बिसे बीस सुत मम समुदाई॥
लखौं चिह्न मिश्रन सम तोरा। निसुचि मंजु मम गोत्र किशोरा॥
जनि रोवसि प्रिय बाल मतीशा। मेटहिं सकल दुसह दुख ईशा॥

धीरज धरि मैं कथन विचारा। पुनि बुध कीन्ह विविध सतकारा॥
परशुराम परपिता हमारे। राजापुर सुख भवन सुधारे॥
प्रथम तीर्थयात्रा महँ आए। चित्रकूट लखि अति सुख पाए॥
कोटि तीर्थ आदिक मुनि-वासा। फिरे सकल प्रमुदित गत आसा॥
वीर मरुतसुत आश्रम आई। रहे रैनि तहँ अति सुख पाई॥
परशुराम सोए सुख पाई। तहँ मारुतसुत स्वप्न देखाई॥
बसहु जाय राजापुर ग्रामा। उत्तर भाग सुभूमि ललामा॥
तुम्हरे चौथ पीठिका एका। तप समूह मुनि जन्म बिबेका॥
दपति तीरथ भ्रमे अनेका। जानि चरित अदभुत गहि टेका॥
दपति रहे पच्छ एक तहवाँ। गए कामदा श्रृंग सु जहवाँ॥
नाना चमतकार तिन्ह पाई। सीतापुर नृप के ढिग आई॥
राजापुर निवास हित भाखा। कहे चरित कुछ गुप्त न राखा॥
तरिवनपुर तेहि की नृपधानी। मिश्र पशुरामहि नृप आनी॥

दोहा—अति महान विद्वान लखि, पठन शास्त्र पट जासु।
बहु सन्माने भूप तहँ, कहि द्विज मूल निवासु॥
सरयू के उत्तर बसत, मञ्जु देश मरवार।
राज मँझवली जानिए, कमया ग्राम उदार॥
राजधानि ते जानिए, कोश विश त्रय भूप।
जन्मभूमि मम और पुनि, प्रगट्यो चौथ स्वरूप॥

चौपाई

चौथ स्वरूप पेंड ते भारी। उपल रूप महि दीन बलारी॥
जैनाभास चल्यो मत भारी। रच्छा जीव पूर्ण परिचारी॥
हम सुकुल तेहि कुल के पडित। षटी धर्म सकल गुण मडित॥
मैं पुनि गाना मिश्र कहावा। गणपति भाग यश महँ पावा॥
मम पितु महावश नहिं कोई। मैं पुनि निन सतान जो मोई॥
तिरसठि अब्द देह मम राना। तिमि सम पत्नि जानि मति भ्राजा॥

रचित स्वप्नवत लखि नरलोका। तीरथ करन चलेहुँ तजि सोका॥
चित्रकूट प्रभु आज्ञा पावा। प्रगट स्वप्न बहु निधि दरसावा॥
भूप मानि मैं चलेहुँ रजाई। राजापुर निवास की ताई॥
निर्धन बसब राजपुर जाई। वृच्छ कलिंदि तीर सधु पाई॥
नगर गेह सुख मिलै कदापी। बसब न होहि जहाँ परितापी॥
अति आदर करि भूप बसावा। वाममार्ग पथ शुद्ध चलावा॥
स्वाद त्यागि शिव शक्ति उपासी। जिनके प्रगट शंभु गिरिवासी॥
परशुराम काशी तन त्यागे। राम मंत्र अति प्रिय अनुरागे॥
शंभु कर्णगत दीन सुनाई। चढि विमान सुरधाम सिधाई॥
तिनके शंकर मिश्र उदारा। लघु पंडित प्रसिद्ध ससारा॥

दोहा—परशुरामजू भूप को, दान भूमि नहि लीन।
शिष्य मारवाडी अमित, धन गृह दीन्ह प्रवीन॥
बचन सिद्धि शंकर मिसिर, नृपति भूमि बहु दीन॥
भूप रानि अरु राज नर, भए शिष्य मति लीन॥
शंकर प्रथम विवाह ते, बसु सुत करि उत्पन्न।
द्वै कन्या द्वै सुत सुबुध, निसि दिन ज्ञान प्रसन्न॥

चौपाई

जोषित मृतक कीन अनु ब्याहा। ताते मोरि सारा बुधनाहा॥
तिनके सत मिश्र द्वै आवा। रुद्रनाथ एक नाम जो ख्यावा॥
सोउ लघु बुध शिष्यन्ह महँ जाई। लाय द्रव्य पुनि भूमि कमाई॥
रुद्रनाथ के सुत भे चारी। प्रथम पुत्र को नाम मुरारी॥
सो मम पिता सुनिय बुध त्राता। मैं पुनि चारि सहोदर भ्राता॥
ज्येष्ठ भ्रात मम गणपति नामा। ताते लघु महेस गुण धामा॥
कर्मकांड पंडित पुनि दोऊ। अति कनिष्ठ मंगल कहि सोऊ॥
तुलसी तुलाराम मम नामा। तुला अन्न धरि तौलि स्वधामा॥
तुलसिराम कुल गुरू हमारे। जन्मपत्र मम देखि निचारे॥

हस्त प्रास पंडित मतिधारी। कह्यो बाल होइहिं व्रतधारी॥
धन विद्या तप होय महाना। तेजरासि बालक मतिमाना॥
भरतखंड एहि सम एहि काला। नहि महान कोउ परमति शाला॥
करिहि रुचित नृपगन गुरुवाई। बचन सिद्धि खलु रहहिं सदाई॥
अति सुंदर सरूप सित देहा। बुध मंगल भाग्यस्थल गेहा॥
ताते यह विदेह सम जाई। अति महान पदवी पुनि पाई॥
पंचम केतु रुद्र गृह राहू। जतन सहस्र वश नहि लाहू॥
दोहा—राज योग दोउ सुख सु एहि, होहि अनेक प्रकार।
अन्दै दया मुनीस को, लियो जन्म बर बार॥

चौपाई

प्रेमहि तुलसि नाम मम राखी। तुलारोह तिय कहि अभिलाषी॥
मातु भगिनि लघु रही कुमारी। कीन ब्याह सुंदरी निचारी॥
चारि भ्रात द्वै भगिनि हमारे। पिता मातु मम सहित निसारे॥
भ्रात पुत्र कन्या मिलि नाथा। षोडस मनुज रहे एक साथा॥
× × × × ×
वानी विद्या भगिनि हमारी। धर्म शील उत्तम गुण धारी॥
× × × × ×
दोहा—अति उत्तम कुल भगिनि सब, ब्याही अति कुसलात।
हस्त प्रास पंडितन्ह गृह, ब्याहे सब मम भ्रात॥

चौपाई

मोर ब्याह द्वै प्रथम जो भयऊ। हस्त ग्राम भार्गव गृह ठयऊ॥
भई स्वर्गवासी दोउ नारी। कुलगुरु तुलसि कहेउ व्रतधारी॥
तृतिय ब्याह कंचनपुर माहीं। सोइ तिय वच विदेश अवगाहीं॥
अहो नाथ तिन्ह कीन्ह खोटाई। मात भ्रात परिवार छोडाई॥
कुलगुरु कथन भई सब साँचो। सुरधन गिरा अवर मव काँची॥
सुनहु नाथ कंचनपुर ग्रामा। उपाध्याय लछिमन अस नामा॥

तिनकी सुता बुद्धिमति एका। धर्मशील गुनपुंज विवेका॥
कथा - पुरान - श्रवन बलभारी। अति कन्या सुंदरि मति धारी॥
दोहा—मोर विप्र बहु द्रव्य ले, पितु मिलि करि उत्साह।
यदपि मातु पितु सो विमुख, भयो तृतिय मम ब्याह॥

× × × × ×

चौपाई

निज विवाह प्रथमहि करि जहवाँ। तीन सहस मुद्रा लिय तहवाँ॥
पट् सहस्र लै मोहि विवाहे। उपाध्याय कुल पावन चाहे॥

ऊपर लिखे हुए पदों का सारांश यह है कि सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश मे मझौली से तेइस कोस पर कसैयाँ ग्राम में गोस्वामीजी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्म-स्थान था और यहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकूट में पहुँचे। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न मे आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रांत के राजा के यहाँ गए और उन्होंने हनुमानजी की आज्ञा को यथातथ्य राजा से कह कर राजापुर मे निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यंत श्रेष्ठ विद्वान् जानकर अपने साथ अपनी राजधानी तीरथनपुर में ले आए और बहुत सम्मानपूर्वक उन्हें राजापुर मे निवास कराया। उनके तिरसठ वर्ष की अवस्था तक कोई संतान नहीं हुई, इससे वे बहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गए तो पुनः चित्रकूट मे स्वप्न हुआ और वे राजापुर लौट आए। उस समय राजा उनसे मिलने आया। तदनंतर उन्होंने राजापुर मे शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित हो राजापुर मे रहने की अनिच्छा प्रकट की, परंतु राजा ने उनके मत के अनुयायी होकर

बडे सम्मानपूर्वक उनको रखा और भूमिदान दिया, परतु उन्होंने ग्रहण नहीं किया। उनके शिष्यो मे मारवाडी बहुत थे, उन्हीं लोगो के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अत-काल म काशी जाकर इन्होन शरीर त्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेशजी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शकर मिश्र हुए, जिनको वाक्सिद्धि प्राप्त थी। राजा और रानी तथा अन्यान्य राज्यवर्ग इनके शिष्य हुए और राजा से इन्ह बहुत भूमि मिली। इन्होंने दो विवाह किए। प्रथम से आठ पुत्र और दो कन्याएँ हुई, दूसरे विवाह से दो पुत्र हुए—(१) सत मिश्र (२) रुद्रनाथ मिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए। सबसे बडे मुरारी मिश्र थे। इन्हीं महाभाग्यशाली महापुरुष के पुत्र गोस्वामीजी हुए।

गोस्वामीजी चार भाई थे—(१) गणपति, (२) महेश, (३) तुलाराम, (४) मगल।

यही तुलाराम तत्त्वाचार्यवर्य भक्तचूडामणि गोस्वामीजी हैं। इनके कुलगुरु तुलसीराम ने इनका नाम तुलाराम रखा था। गोस्वामीजी के दो बहने भी थीं। एक का नाम वाणी और दूसरी का विद्या था।

गोस्वामीजी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह हुआ और दूसरी के मरने पर तीसरा। यह तीसरा व्याह कचनपुर क लछमण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में इनके पिता ने छ हजार मुद्रा ली थीं। इसी स्त्री के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए थे।

[मर्यादा भाग ४ अक १

परिशिष्ट (२)

बाबा वेणीमाधवदास-कृत

मूल गोसाईंचरित

सोरठा—सतन कहेउ बुझाय, मूलचरित पुनि भाषिए।
अति सचेप सोहाय, कहौं सुनिय नित पाठ हित ॥१॥
चरित गोसाईं उदार, बरनि सकै नहिं सहसफनि।
हौं मतिमद गँवार, किमि बरनौं तुलसी सुजस ॥२॥

तोटक

ऋषि आदि कवीश्वर ग्याननिधी। अवतरित भए जनु आपु विधी ॥
सत कोटि बखानेउ राम कथा। तिहुँ लोक में बाँटेउ सभु जथा ॥
दस स्यदन वेद दसागमय। स्रुति त्रैनिधि तीनिउ रानिजय ॥
श्रीराम प्रनव स्रुतितत्त्व पर। निज असनि जुत नरदेह धर ॥
इमि कीन्ह प्रबध मुनीस जथा। हरि कीन्ह चरित्र पवित्र तथा ॥
हनुमत प्रनव प्रिय प्रान रसै। परतत्त्व रसै तिसु सीस लसै ॥
यहि भाँति परात्पर भाव लिए। सुचि राम परत्व बखान किए ॥
मुनिराज लखे अद्भुत रचना। कपिराज सों कीन्ह इहै जँचना ॥
यह गुप्त रहस्य है गोइ धरैं। विनती हमरी न प्रकास करैं ॥
तब अजनि-नदन साप दियो। हँसिकै मुनि धारन सीस कियो ॥

दोहा—सहनसीलता मुनि निरखि, पवन-कुमार सुजान।
बहु विधि मुनिहिं प्रससि पुनि, दिए अभय बरदान ॥१॥

कलिकाल मैं लैहहु जन्म जबै। कलि ते तव त्रान सदा करिबै ॥
तेहि साप के कारन आदि कवी। तमपुज निवारन हेतु रवी ॥
न्दए तुलसी उदघाटिहि ते। सुर सत सरोरुह से विकसे ॥
सरवार सुदेस क विप्र बड। सुचि गोत परासर टेक कडे ॥

सुभ थान पतेजि रहे पुरखे। तेहि ते कुल नाम पड़ो झुररे॥
यमुना-तट दूबन को पुरवा। नसते सब जातिन को कुरवा॥
सुकुली सतपात्र सुवा सुखिया। रजियापुर राजगुरू मुखिया॥
तिनके घर द्वादस मास परे। जब कर्क के जीव हिमांसु चरे॥
कुज सप्तम अष्टम भानु तन। अभिहित सुठि सुंदर साँझ मनँ॥
दोहा—पंद्रह सै चावन विपै, कालिंदी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तिमी, तुलसी धरेउ सरीर॥ २॥
सुत जन्म बधाव लग्यो बजन। सबने छजने रजने गजन॥
एक दासि कढी तेहि अवसर म। कहि देव बुलाहट हे घर में॥
सिसु जन्मत रचक रोयो नहा। सो तो बोलेउ राम गिरेउ ज्यो महीं॥
अब देखिय दंत बतीसा जमी। नहिं सारदंड पाँति में नेक कमी॥
जस बालक पाँच को देखिय जू। तस जन्मतुआ निज लेखिय जू॥
अब बूढ़ि भई भरि जन्म नहा। सिसु एसो मैं देखिउँ तात कहीं॥
महरी कहती सुनि सोच धुनी। जबहा सो समय सिसुनार छुनी॥
जो लोगाइ रहीं कपती यकती। काउ राकस जामेउ कहि भगती॥
महराज चलिय अब वेगि घर। समुझाइ प्रसूति को ताप हर॥
दोहा—उठे तुरत भृगुवंसमनि, सुनत चेरि के बैन।
ठाढ़ प्रसूती द्वार भे, पूरित जल सों नैन॥ ३॥
छंद—पूरित सलिल दृग निरखि सिसु परिताप-जुत मानस भए।
मन महँ पुराकृत पाप को परिनाम गुनि बाहेर गए॥
तब जुरे सब द्विज मित्त बाधव गनक आदि प्रसिद्ध जे।
लागे विचारन का करिय नवजात सिसु कहँ कहहि ते॥ १॥
दोहा—पंचन यह निरनय कियो, तीन दिवस पश्चात।
नियत रहै सिसु तब करिय, लौकिक वैदिक बात॥ ४॥
दसमी पर लागेउ ग्यारस ज्यो। परि आठक रात्रि गई जब त्यों॥
हुलसी प्रिय दासि सों लागि कहे। सखि प्रात पयार उड़ान चहे॥

अब हौं सिसु लै गवनहु हरिपुर। बसते जहँ तोरिउ सास ससुर॥
तहँ जोइनि पालनि मोर लला। हरिजू करिहैं सरिस तोर भला॥
नहि तो ध्रुव जानहु मोर मुए। सिसु फेंकि पवारहिंगे भकुए॥
सखि जान न पावै कोऊ बतियाँ। चलि जायहु मग रतियाँ रतियाँ॥
तेहि गोद दियो सिसु ढारस दे। निज भूषन दै दिया ताहि पठै॥
चुपचाप चली सो गई सिसु लै। हुलसी उर सूनु वियोग फबै॥
गोहराइ रमेस महेस विधी। विनती करि राखव मोर निधी॥

दोहा—ब्रह्म मुहूर्त एकादशी, हुलसी तजेउ सरीर।
होत प्रात अन्त्येष्टि हित, लैगे जमुना तीर॥ ५॥

घरि पाँच इक बार चढ़ै मुनिआ। निज सास के पाय गही चुनिआ॥
सब हाल हवाल बताय चली। सुनि माम कही बहु कीन्ह भली॥
घर माहिं कलार की दूध पिआ। बिनु माय का है सिसु लेसि जिआ॥
तहँ पालन सो लगि नेह नरै। जेहि ते सिसु रीझइ सोइ करै॥
यहि भाँति सो पैंसठ मास गए। सिसु बोलन डोलन जोग भए॥
चुनियाँ सुरलोक सिधार गई। डस्यो पन्नग ज्यों सो कोरार गई॥
तब राजगुरू को कहाव गया। सुनिकै तिनहूँ दुख मानि कह्या॥
हम का करिबै अस बालक लै। जहि पालै जो तासु करै सोइ छै॥
जनमेउ सुत मोर अभागो महा। सो जिए वा मरै मोहि सोच नहा॥

दोहा—बेनी पूरब जनम कर, करम विपाक प्रचंड।
विना भोगाए टरत नहि, यह सिद्धांत अखंड॥ ६॥

छंद—सिद्धांत अटल अखंड भरि ब्रह्मंड व्यापित सत जथा।
जहँ मुनिवरन की यह दसा तहँ पामरन की का कथा॥
निज छति विचारि न राख कोऊ दया हग पाछे दियो।
डोलत सो बालक द्वार द्वार विलोकि तेहि निहरत हियो॥ २॥

सोरठा—बालक दसा निहारि, गौरा माइ जग जननि।
द्विज तिय रूप सँवारि, निवहि पग जातहि असन॥३॥

दुइ वत्सर बीतेउ याहि रसे। पुर लागन कौतुक देखि कसे॥
जिन जोहत जसूस पै आय जकै। परिचय द्विज नारि न पाइ थकै॥
घर नारि हती तहँ सो परखी। जब माय सजाय लला टरखी॥
परि पाँय करी हठ जान न दे। जगदंब अदृश्य भई तब ते॥
सिव जानि प्रिया व्रत हेतु हियो। जन लौकिक सुलभ उपाय कियो॥
प्रिय सिष्य अनंतानंद हते। नरहर्य्यानंद सुनाम छते॥
बसै रामसुसैल कुटी करिकै। तल्लीन दसा अति प्रिय हरि कै॥
तिन कहँ भव दरसन आपु दिए। उपदेसहुँ दे कृतकृत्य किए॥
प्रिय मानस रामचरित्र कहे। पठए तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥

दोहा—लै बालक गवनहु अवध, विधिवत मंत्र सुनाय।
मम भाषित रघुपति कथा, ताहि प्रबोधहु जाय॥ ७॥
जब उघरहि अक्षर दृगनि, तब सो कहिहि बनाय।
लरिकाई को पैरिबो, आगे होत सहाय॥ ८॥

सोरठा—संभु वचन गभीर, सुनि मुनि अति पुलकित भए।
सुमिरि राम रघुबीर, तुरत चले हरिपुर लके॥ ९॥

पुर हेरि के बालक गोद लिए। द्विजपुत्र अनाथ सनाथ किए॥
क्यों रामबोला न सोच करै। पलिहैं पासिहैं सब भाँति हरै॥
सो तो जानत दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसंत का रूप धरी॥
पुरलोगन फेर रजाय लिए। सह बालक संत पयान किए॥
पहुँचे जब श्रीअवधपुरी नगरे। निवसे पुर बाहिर माँ सगरे॥
पद्रह सै इकसठ माघ सुदी। तिथि पंचमि औ भृगुवार उदी॥
सरयू तट विप्रन जग्य किए। द्विज बालक कहँ उपवीत दिए॥
बिनए बिनु आपुइ सो बरुआ। द्विजमंत्र सचित्रि सुउच्चरुआ॥
विस्मययुत पंडित लोग भए। कहे देखत बालक विप्र ठए॥

दोहा—नरहरि स्वामी तब किए, संसकार विधि पाँच।
राममंत्र दिय जेहि छुटै, चौरासी को नाँच॥ १०॥

दस मास रहे मुनिराज तहाँ। हनुमान सुटीला निराज जहाँ॥
निज सिष्यहिं विद्या पढाय रहे। अगे पानिनि सूत्र घोखाय रहे॥
लघु बालक धारनसक्ति जगी। अनुरक्ति सभक्ति दिखान लगी॥
हरषे गुनग्राम बिचार हिए। पद चापत आसिष भूरि दिए॥
जब तें जनमेउ तब तें अब लों। निज दीन दसा कहिगा गुरु सों॥
ठक से रहिगे सुनि बाल-कथा। करुना उर में उपजाइ व्यथा॥
मुनि धीर भरे दृग नीर रहे। गुरु सिष्य दसा कवि कौन कहे॥
समुझाइ बुझाइ लगाइ हिए। कहि भावि भलाइ प्रसाद किए॥
हरिप्रिय ऋतु लाग हेमन्त जबै। सिष संग लै कीन्ह पयान तबै॥

दोहा—कहत कथा इतिहास बहु, आए सूकरखेत।
सगम सरयू घाघरा, संत जनन सुख देत॥ १०॥

तहवाँ पुनि पाँचइ वर्ष बसे। तप में जप में सब भाँति रसे॥
जब सिष्य सुबोध भयो पढ़िकै। मति जुक्ति प्रवीन भई गढ़िकै॥
सुधि आइ महेस सिखावन की। परतत्त्व प्रबंध सुनावन की॥
तब मानस रामचरित्र कहे। सुनिकै मुनि बालक तत्त्व गहे॥
पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे॥
यहि भाँति प्रबोधि मुनीस भले। वसुपर्व लगे सह सिष्य चले॥
बिस्राम अनेक किए मग में। जल अन्न को खेल मच्यो जग में॥
कतहूँ सुकृतिन उपदेस करें। कतहूँ दुखिया दुखदाप हरें॥

दो०—विचरत बिहरत मुदित मन, पहुँचे कासी धाम।
परम गुरू सुखधान पर, जाय कीन्ह विस्राम॥ ११॥

सुठि घाट मनोहर पंच पगा। गँगिया कर कौतुक केलि झगा॥
पुनि सिद्ध सुपृष्ठ प्रतिष्ठित सो। बहुकाल यतीन्द्र रहे जु तहाँ॥
तहवाँ हते सेष सनातन जू। वपुवृद्ध वरच युवा मन जू॥
निगमागम पारग ज्योति फनै। मुनि सिद्ध तपोधन जान सनै॥
तिन रीझि गए बटु पै जब हा। गुरु स्वामि सों सुंदर याव कहीं॥

निज सिष्यहि देइय मोहि मुनी। तिसु वृत्ति दुनी नहि ध्यान धुनी ॥
हौं ताहि पढाउब बेद चहूँ। अरु आगम दरसन पात छहूँ ॥
इतिहास पुरानरु काव्यकला। अनुभूत अलभ्य प्रतीक फला ॥
निदान महान बनाउब जू। सुन आपु महासुख पाउब जू ॥

दोहा—आचारज विनती सुनत, पुलकित भे मुनिधीर।
बटु बुलाय सौंपत भए, पावन गंगा तीर ॥ १२ ॥

कछु दिन रहिगे यति प्रवर, पढन लगो बटु भास।
चित्रकूट कहँ तब गए, लखि सब भाँति सुपास ॥ १३ ॥

बटु पद्रह वर्ष तहाँ रहिकै। पढि सास्त्र सबै महिकै गहिकै ॥
करिकै गुरु सेवा सदय तन तै। गत देह क्रिया करि सौ मन तै ॥
चले जन्मथली को विषाद भरे। पहुँचे रजियापुर के बगरे ॥
निज भौन विलोकेउ ढूह ढहा। कोउ जीवन जोग न लोग रहा ॥
इक भाट बखानेउ ग्राम कथा। दिजवंस को नास भयो जु जथा ॥
कह्यो जा दिन नाइ से राज गुरु। तब त्याग की बोलेउ बात करू ॥
तहँ बैठ रह्यौ तप तेज धनी। तिन साप दियो गहि नागफनी ॥
षट मास के भीतर राजगुरू। दस वर्ष के भीतर वंस मरू ॥
सुनिकै तुलसी मन सोक छए। करि स्राद्ध यथाविधि पिंड दए ॥

दोहा—पुर लोगन अनुरोध ते, दियो भवन बनवाय।
रहन लगे अरु कहत भे, रघुपति कथा सुहाय ॥१४॥

यमुना पर तीर मों तारिपवो। भरद्वाज सुगोत्त को विप्र हवो ॥
कातिकी दुतिया कर न्हान लगे। सकुटुंब सो आयउ संग सगे ॥
करि मज्जन दान गए तहवाँ। तुलसीसुत बाँच कथा जहवाँ ॥
छबि व्यास विलोकि प्रसन्न भए। सब लोगन बूझि स्वठाम गए ॥
पुनि माघव मास में आय रहे। कर जोरिकै सुंदर बात कहे ॥
महराति जबै नगिचाय रही। सपने जगदंब चेताय रहा ॥

सुभ राउर नाँव बताय रही। सब ठाँव ठिकान जताय रही॥
हौं हेरत हेरत आयो इतै। मोहि राखिय हौं अब जाव कितै॥

दोहा—सुनत विनय सोचन लगे, पुनि बोले सकुचाय।
ब्याह बरेखो ना चहौं, अनत पधारिय पाय॥ १५॥

द्विज मानै नहीं धरना धरिकै। नहि खाय पियै समना करिकै॥
दुसरे दिन जब स्वीकार कियो। तब विप्र उठी जल अन्न लियो॥
घर जाय सोधाय के लग्न धरो। उपरोहित भेजि प्रसस्त कियो॥
इत ते पुरलोगन जोग दिए। सब साज समान बरात किए॥
पद्रह सै पार तिरासि विषै। सुभ जेठ सुदी गुरु तेरस पै॥
अधिरात लगै जु फिरी भँवरी। दुलहा दुलही की परी पँवरी॥
ललना मिलि कोहबर माहिँ रसीं। वरनायक पडित सो विहँसीं॥
तिसरे दिन माँडवचार भयो। सुचि भगति सो दान दहेज दयो॥

दोहा—विदा करा दुलही चले, पडितराज महान।
आए निज पुर अरु किए, लोकाचार विधान॥ १६॥

पुर नारि जुरा गुरु भौन गई। दुलही मुख देखि निहाल भई॥
हुलसा-सुत देखेउ नारि छटा। मुख इदु ते घूघट-कोर हटा॥
मन प्रानप्रिया पर वारि दिए। जस कोसिक मेनका देखि भए॥
दिन रात सदा रँग राते रहैं। मुख पाते रहैं ललचात रहैं॥
सर वर्ष परस्पर चाव चए। पल ज्यों रसकेलि ग बीत गए॥
नहि जाने दे आपु न जाय कहीं। पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥
दुखिया जननी मुख देखन को। पितु ग्राम सुग्रासिनि पेखन को॥
सह बधु गई चुपके सो सखी। बरखासन ग्राम हते जु पखी॥
जब साँझ समय निज गेह गए। घर सून निहारि ससोच भए॥
तब दासि जनायउ माँ करि कै। निज बधु के सग गई मैके॥
सुनते उठिकै ससुरारि चले। अति प्रेम प्रगाढ विसेष पले॥
कौनिउ बिधि तें सरि पार किए। पहुँचे सब सोवत द्वार दिए॥

छंद—दै द्वार सोवहि लोग नींद तुराइ गोहरावन लगे।
खर चीन्हि द्वार कपाट खोली झमकि भामिनि सगबगे॥
बोली बिहँसि बानी बिमल उपदेस सानी कामिनी।
कस बस चले प्रेमाध ज्यों नहि सुधि अँधेरी यामिनी॥३॥

दोहा—हाड मास की देह मम, तापर जितनी प्रीति।
तिसु आधी जो राम प्रति, अवसि मिटिहि भवभीति॥१७॥

सोरठा—लाग वचन जिमि बान, तुरत फिरे बिरमे न छिन।
सोचेउ निज कल्यान, तब चित चढेउ जो गुरु कहेउ॥५॥

दोहा—नरहरि कचन कामिनी, रहिए इनते दूर।
जो चाहिय कल्यान निज, राम दरस भरपूर॥१८॥

उठि दौरि मनावन सार गये। पिछुआए रह्यो जब भोर भयो॥
नहि फेरे फिरे फिरि आयो घरै। भगिनी निज मूर्च्छित देख्यो परै॥
मुर्च्छा जु टूटी उठि बोलि सती। पिय को उपदेसन आइ इती॥
पिय मोर पयान कियो बन को। हौं प्रान पठाउँ तजौं तनु को॥
कहिकै अम सो निज देह तजी। सुरलोक गई पति धर्मध्वजी॥
सत पद्रह युक्त नवासि मरै। सुअसाढ बदी दसमीहुँ परै॥
बुध वासर धन्य सो धन्य घरी। उपदेसि सती तन त्याग करी॥
भयो मोर कह कोउ सिद्ध मुनी। परमारथ विंदक तत्व गुनी॥
द्विजगेह में सारद देह धरी। रति रंग रमा रस राग हरी॥

दोहा—कोउ कह तिय की मुरति वै, बोलेउ श्रीभगवान।
मोह निवारेउ भगत कर, साद्विव सीलनिधान॥१९॥

तुलसीसुत तीरथराज गए। अरु मजि त्रिवेनि कृतार्थ भए॥
गृहिनेप विसर्जन कीन्ह तहाँ। मुनिनेप सँवारि चले कहाँ॥
गढ हेलि रु धेनुमती तमसा। पहुँचे रघुवीरपुरी सहसा॥
तहवाँ चौमासक लौं बसिकै। प्रिय सत अनत निमू [illegible]॥
चले बेगि पुरी कहँ धाम महा। विस्राम पचीसक [illegible]॥

तिनमाँ दुइ ठाम प्रधान गुनो। वरदानरु साप की बात सुनो॥
घडि चारि दुर्बोलि में वास किए। हरिराम कुमारहि साप दिए॥
सो प्रसिद्ध सुप्रेत भयो तेहिते। हरिदरसन आपु लह्यो जेहि ते॥
पुनि चारुकुँवरि वरदान दियो। जिन सत सुसेवा लियेरु कियो॥

दोहा—जगन्नाथ सुरधाम मे, कछुक दिना करि वास।
लिपे वाल्मीकी स्वकर, जब तब लहि अवकास॥ २०॥

रामेस्वर कहँ कीन्ह पयाना। तहँते द्वारावति जग जाना॥
बहुरि तहाँ ते चलि हरषाई। बदरी धामहि पहुँचे जाई॥
नारायन ऋषि व्यास सोहाए। दरस दिए मानस गुन गाए॥
तहँ ते अति दुर्गम पथ लयऊ। मान सरोवर कहँ चलि गयऊ॥
जिय को लोभ तजै जो कोई। सो तहँ जाइ कृतारथ होई॥
तहँ करि दिव्य सत सत्संगा। जाते होवै भवरस भंगा॥
दिव्य सहाय पाय मुनिराई। जात रुपाचल देखेउ जाई॥
नीलाचल कर दरसन कीन्हें। परम सुजान भुसुंडिहि चीन्हें॥
लौटि सरोवर पै पुनि आए। गिरि कैलास प्रदच्छिन लाए॥

दोहा—इमि करि तीर्थाटन सफल, निवसे भव बन जाय।
चौदह वरिस रु मास दस, सतरह दिवस विताय॥ २१॥

टिकिके तहँ चातुर्मास किए। नित रामकथा कहि हर्ष हिए॥
बनवासि सुसंत सुनै नित सो। सुनि होहि अनंदित ते चित सों॥
वन मा इक पिप्पल रुख हतो। तिसु ऊपर प्रेत निवास छतो॥
जल सौच गिरावहि तासु तरे। सोइ पानिय प्रेत पियास हरे॥
जब जानेउ सो कि अहैं मुनि ये। जिन वालपने मोहि साप दिये॥
तब एक दिना सो प्रतच्छ कह्यो। कहिए सो करौं जस भाव अह्यो॥
तुलसी सुत बोलेउ मोरे मना। रघुनंदन दरसन की चहना॥
सुनि प्रेत कह्यो जु कथा सुनिये। नित आवत अंजनिपूत अजै॥
सब ते प्रथमै सो तो आवहि जू। सब लोगन पाछे सो जावहिं जू॥

सोरठा—वेष अमंगल धारि, कुष्ठी को तनु जानि यहि।
अवसर नीक विचारि, चरन गहिय हठ ठानि यहि॥ ६॥

छंद—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिवर विनय बहु विधि भाषेऊ।
पद गहि न छाडेउ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ॥
रघुबीर दरसन मोहि कराइय मुनि कहेउ गद्गद बचन।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चयन॥ ४॥

दोहा—श्री हनुमत प्रसंग यह, विमल चरित विस्तार।
लहेउ गोसाईं दरस रस, विदित सकल ससार॥ २२॥

चित चेति चले चितकूट चितय। मन माहि मनोरथ को उपचय॥
अस सोचहि आपन मद कृती। पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती॥
सुधि आवत राम स्वभाउ जबै। तब धावत मारग आतुर है॥
यहि भाँति गोसाईं तहाँ पहुँचे। किय आसन राम सुघाटहि पै॥
इक बार प्रदच्छिन देन गए। तहँ देखत रूप अनूप भए॥
जुग राजकुमार सु अस्व चढ़े। मृगया बन खेलन जात कढ़े॥
छबि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनुधारि न जानि सकै॥
हनुमत बतायउ भेद सबै। पछिताइ रहे ललचाइल है॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय॥

दोहा—सुखद अमावस मौनिया, बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिसु घाट पै, बिरही होतहि प्रात॥ २३॥

सोरठा—प्रकटे राम सुजान, कहेउ देहु बाबा मलय।
सुक बपु धरि हनुमान, पढ़ेउ चेतावनि दोहरा॥ ७॥

दोहा—चित्रकूट के घाट पै, भइ सतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसैं, तिलक देत रघुबीर॥ २४॥

छंद—रघुबीर छबि निरखत लगे बिसरा सबै सुधि देह की।
को घिसै चदन दृगन तैं बहि चला सरित सनेह की॥

प्रभु कहेउ पुनि सो नाहि चेवेउ स्वकर चदन लै लिए।
दे तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अतर्हित किए ॥ ५ ॥

दोहा—विरह व्यथा तलफत पडे, मगन ध्यान इकतार।
रैन जगाए वायुसुत, दीन्हे दसा सुधार ॥ २५ ॥

सुक पाठ पढावत नारि नरा। करतल पर लै सुक को पिंजरा ॥
तुलसी-सुत भक्ति महा महिमा। तत्कालहि छाय रही महि माँ ॥
दिन एक प्रदच्छिन कामद दै। पहुँचे सौमित्र पहाडिहि पै ॥
तहँ स्वेतक सर्प पडयो मग मे। सित गात मनोहर या जग मेँ ॥
तिसु ओर बिलोकि गोसाँई कहे। चद्रोपम सुदर नाग अहे ॥
हरि सृष्टि विचित्र कहे न बनै। निगमागम सारद सेष भनै ॥
ऋषि दृष्टि पडै तिसु पाप गयौ। तब पन्नग ग्यानि ललात भयो ॥
मोहि छूइकै तारिय नाथ अबै। छुअतेहि गयो सो भुजग अबै ॥
योगश्रि मुनी तहँ छीत भए। निज पूर्व कथा कहि बास लए ॥

दोहा—यह प्रभाव मुनिनाथ कर, सुनि गुनि सत सुजान।
आवन लागे दरस हित, भीर भयो ऋषि थान ॥ २६ ॥

बडि भीर निहारि गुफा में ढुके। बहिरतर हानि बिचारि लुके ॥
मुनि आवहि जोगि तपी रु यती। बिनु दरसन जाहिं निरास अती ॥
दरियानँद स्वामिहुँ आय रहे। निज आसन टेकि जमाय रहे ॥
लघुसका के हेतु गोसाईं कढे। कर जोरि सो स्वामि भए जु ठढे ॥
कहे नाथ है होत अनीति बडी। छमिए कहिबो मम बात कडी ॥
लघुसका लगे बहिरात हैं जू। सुनि साधु गिरा छिपि जात हैं जू ॥
दुख पावत सज्जन हैं तेहि ते। बिनतो हौं करौं सुनिए यदि ते ॥
हौं देव मचान बँधाय अबै। तेहि ऊपर आसन नाथ फबै ॥
करि दरसन होव निहाल सबै। सुठि सत समागम होइ जबै ॥

दोहा—बिनती दरियानद की, मानि सजाय मचान।
बैठत दिन भर लहत सुख, साधक सिद्ध सुजान ॥ २७ ॥

नित नव सतसंग उमाह बढ़ै। सुचि मत हृदय रसरंग चढ़ै॥
नित नित्य विहारहु देखत हैं। मृगया कर कौतुक पेखत हैं॥
वृंदाबन तें हरिवंस हितू। प्रियदास नवल निज सिष्य भृतू॥
पठए तिन आइ जोहार किए। गुरुदत्त सुपोथि सप्रेम दिए॥
जमुनाष्टक राधा-सुधानिधि जू। अरु राधिकातंत्र महा निधि जू॥
अरु पाति दई हित हाथ लिखी। सोरह सै नव जन्माष्टमि की॥
तहि माहिं लिखी विनती बहुरी। सोइ बात सुसागर मा कहुरी॥
रजनी महरास की आवत जू। चित मोर मदय ललचावत जू॥
रसिकै रस मों तनु त्याग चहौं। मोहि आसिष देइय कुंज लहौं॥

सोरठा—सुनि विनती मुनिनाथ, एवमस्तु इति भाषेउ।
तनु तजि भए सनाथ, नित्य निकुंज प्रवेस करि॥ ८॥

दोहा—सडौला ते आय कै, वसु स्वामी नँदलाल।
पढ़ै रामरच्छा विवृति, जो भक्तन को ढाल॥ २८॥

पट मास रहे सतसंग लहे। चलती निरियाँ कछु चिह्न चहे॥
दियो सालग्राम की मूर्ति भली। निज हस्त लिखित कवच औ कमली॥
इमि जादव माधव वेनि उभय। चितसुख करुनेस अनंद सदय॥
तपसी सुमुरारि उदार जती। निरही भगवत सुभागवती॥
विभवानँद देव दिनेस मिले। अरु दच्छिन देस के स्वामि पिले॥
सब रंग रँगे सतसंग पगे। ब्रह्मादि कुमोंद सुपुष्ट जगे॥
कहैं धन्य गोसाईं जु जन्म लए। लहि दरसन हौं कृतकृत्य भए॥
दृग नीर ढरै नहि बात सरै। सब जाहि सप्रेम प्रमोद भरै॥
वसु संवत साधु समागम सों। कटिगो नहि जानि परयो किमि धौं॥

दोहा—सोरह सै सोरह लगे, कामद गिरि ढिग बाम।
सुचि एकांत प्रदेस महँ, आए सूर सुदाम॥ २९॥
पठए गोकुलनाथजी, कृष्ण रंग में बोरि।
दृग फेरत चित चातुरी, लीन्ह गोसाई छोरि॥ ३०॥

कवि सूर दिखायउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर को॥
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पदपंकज पै सिर नाय कहे॥
अस आसिष देइय स्याम ढरैं। यहि कीरति मोरि दिगंत चरैं॥
सुनि कोमल बैन सुदादि दिए। पद पोथि उठाय लगाय हिए॥
कहे स्याम सदा रस चाखत हैं। रुचि सेवक की हरि राखत हैं॥
तनिको नहिं संसय है यहि माँ। स्रुति सेष बखानत हैं महिमा॥
दिन सात रहे सतसंग पगे। पदकंज गहे जब जान लगे॥
गहि बाँह गोसाईं प्रबोध किए। पुनि गोकुलनाथ को पत्र दिए॥
लै पाति गए जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी॥

दोहा—तब आयो मेवाड़ ते, विप्र नाम सुखपाल।
मीरा बाई पत्रिका, लायौ प्रेम प्रवाल॥ ३१॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे, गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय॥ ३२॥

तडके इक बालक आन लग्यो। सुठि सुंदर कंठ सों गान लग्यो॥
तिसु गान पै रीझि गोसाइँ गए। लिखि दीन्ह तबै पद चारि नए॥
करि कंठ सुनायउ दूज दिना। अडि जाय सो नूतन गान बिना॥
मिसु याहि बनावन गीत लगे। उर भीतर सुंदर भाव जगे॥
जब सोरह सै बसु बीस चढ़ौ। पद जोरि सबै सुचि ग्रंथ गढ़ौ॥
तेहि राम गीतावलि नाम धर्यो। अरु कृष्ण गीतावलि राँचि सर्यो॥
दोउ ग्रंथ सुधारि लिखै रुचि सों। हनुमंतहि दीन्ह सुनाय जिसों॥
तब मारुति ह्वै कै प्रसन्न कह्यौ। करि ध्यान अवधपुर जाइ रह्यौ॥
इमि इष्ट को आयसु पाइ चले। निरखे सुठि तीरथराज थले॥

दोहा—तेहि अवसर उत्तम परब, लागो मकर नहान।
जोगी तपी जती सती, जुरे सयान अजान॥ ३३॥

तेहि पर्व ते पाछे गए दिन छै। बट छाँह तरे जु लख्यो मुनि द्वै॥
तपपुंज दोऊ मुख कांति तपै। छवि छाम छपाकर छद छपै॥

करि दंड प्रनाम सुदूरहिं ते। कर जोरि कै ठाढ़ भए तहि ते॥
मुनि सैन सों एक हँकारि लियो। अपने ढिग आसन चारु दियो॥
तेहि टारि कै भूमि में बैठि गए। परिचय निज दै परिचाय लए॥
सोइ रामकथा वहँ हेत रह्यो। गुरु सूकरखेत म जौन कह्यो॥
विस्मययुत बूझेउ गुप्त मता। कहि जागबलिक मुनि दीन्ह बता॥
हर रचि भवानिहि दीन्ह सोई। पुनि दीन्ह भुसुंडिहि तत्त गोई॥
हीं आइ भुसुंडि ते ताहि लहेउ। भरद्वाज मुनी प्रति आइ कहेउ॥

दोहा—यहि विधि मुनि परितोष लहि, पद गहि पाय प्रसाद।
सुनै जुगल मुनिवर्य कर, तहाँ विमल संवाद॥ ३४॥

तेहि ठाँव गए जब दूजे दिना। थल सून निहारु मुनीस बिना॥
वट छाँह न सो नहि पर्नकुटी। मन बिसमय बाढ़ेउ मर्म पुटी॥
उर राखि उभय मुनि सील चले। हरि प्रेरित कासि की ओर ढले॥
कछु दूरि गए सुधि आइ जबै। मन सोचत का करिए जु अबै॥
जो भया सो भयो अब याहि सधै। हर दरसन कै चलिहौं अवधै॥
मन ठीक किए मग आसु बढ़ै। चलि कै पुनि सुरसरि तीर कढ़े॥
तब तीरहिं तीर चले चित दै। भइ साँझ जहाँ सो तहाँ टिकिगे॥
दिग वारि पुरा बिच सीतामढ़ी। तहँ आसन डारत वृत्ति चढ़ी॥
नहि भूख न नींद निछिप्त दसा। उर पूरब जन्म प्रसंग बसा॥

दोहा—सीतावट तर तीन दिन, बसि सुकवित्त बनाय।
बदि छोड़ावन विप्र नृप, पहुँचे कासी जाय॥ ३५॥
भगन सिरोमनि घाट पै, विप्र गेह करि बास।
राम विमल जस कहि चले, उपज्यो हृदय हुलास॥ ३६॥

दिन माँ जितनी रचना रचवे। निसि माहिं सुरक्षित ना बचते॥
यह लोपक्रिया प्रति द्यौस सरै। करिए सो कहा नहि बूझि परै॥
अठवें दिन संभु दिए सपना। निज बोलि में काव्य करो अपना॥
उचटी निदिया उठि बैठु मुनी। उर गूँजि रह्यो सपने की धुनी॥

प्रगटे सिव संग भवानि लिए। मुनि आठहु अंग प्रणाम किए॥
सिव भाषेउ भाषा में काव्य रचो। सुर बानि के पीछे न तात पचो॥
सब कर हित होइ सोई करिए। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिए॥
तुम जाइ अवधपुर वास करो। तहई निज काव्य प्रकास करो॥
मम पुन्य प्रसाद सों काव्य कला। होइहै सम साम रिचा सफला॥
सोरठा—कहि अस संभु भवानि, अन्तर्धान भए तुरत।
आपन भाग्य बखानि, चले गोसाईं अवधपुर॥ ६॥
दोहा—जेहि दिन साहि सभान में, उदय लह्यो सन्मान।
तेहि दिन पहुँचे अवध मे, श्री गोसाईं भगवान॥ ३७॥
सरयू करि मज्जन गव दिन में। विचरे पुलि नारन बीथिन में॥
एक संत मिले कहने सो लगे। थल रम्य लखें महबीरी लगे॥
लै संग सो ठाम दिखायो भले। बट की विटपावलि पुन्य थले॥
तिन माँ बट एक बिसाल यहीं। तिसु मूल म वेदिका सोहि रही॥
तिसु ऊपर बैठु सिंघासन से। एक सिद्ध प्रसिद्ध हुतासन से॥
थल देखि लोभायो गोसाइं मना। बसिए यहि ठावँ कुटीर बना॥
जब सिद्ध के सन्निधि मो गुदरे। तजि आसन सो जय जय उचरे॥
सो कह्यो गुरु मोर निदेस दियो। तेहि कारन हौं यह बास लियो॥
गुरु मोर बतायउ मर्म सबै। सो तो देखत हौं परतच्छ अबै॥
कु०—मम गुरु कहेउ कि करहि किन सिद्ध पृष्ठ थल वास।
कछु दिन बीते कहहिंगे हरि जम तुलसीदास॥
हरिजस तुलसीदास कहहिंगे यहि थल आई।
आदि कवी अवतार वायुनंदन बल पाई॥
राजराज बट रोपि दियो मरजाद समुत्तम।
बसि यह ठाहर ठाढु मानि अति हित सासन मम॥ १॥
सोरठा—जब ऐहैं यहि ठाम, तुलसी सुत तिसु हेतु हित।
सौंपि कुटी आराम, तन तजि ऐहहु मम निकट॥ १०॥

उपदेस गुरू मोहि नीक लग्यो। बहु जन्म पुरातन पुन्य जग्यो॥
बसिकै रसिकै तपिकै चौरी। हौं जोहत बाट रहेउँ रौरी॥
अब राजिय गाजिय नाथ यहाँ। हौं जाव बसे गुरु मोर जहाँ॥
कहिकै अस वेदिका से उतरयो। सिर नाइ सिधारेउ दूरि परयो॥
तहँ आसन मारिकै ध्यान धरयो। तिसु जोग हुतासन गात जरयो॥
यह कौतुक देखि गोसाइँ कहैं। धनुधारि तेरी बलिहारि अहैं॥
नियमे तहँ सौख्य सुपास लहैं। दृढ संयम जे सम योग गहे॥
पय पान करैं सोउ एक समय। रघुबीर भरोस न काहुक भय॥
जुग वत्सर बीत न वृत्ति डगी। इकतीस को संवत आई लगी॥

दोहा—रामजन्म तिथि वार सब, जस त्रेता महँ भास।
तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास॥ ३८॥
नवमी मंगलवार सुभ, प्रात समय हनुमान।
प्रगटि प्रथम अभिषेक किय, करन जगत कल्यान॥ ३९॥
हर, गौरी, गनपति, गिरा, नारद, सेष सुजान।
मंगलमय आसिष दिए, रवि, कवि, गुरु गिरवान॥४०॥

सोरठा—यहि विधि भा आरंभ, रामचरितमानस विमल।
सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संसय सकल॥११॥

दुइ वत्सर सातेक मास परे। दिन छब्बिस माँझ सो पूर करे॥
तैंतीस को संवत औ मगसर। सुभ द्योस सुराम विवाहहि पर॥
सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को॥
पाखंड प्रपंच बहावन को। शुचि सात्त्विक धर्म चलावन को॥
कलि पाप कलाप नसावन को। हरि भगति छटा दरसावन को॥
मत वाद विवाद मिटावन को। अरु प्रेम को पाठ पढावन को॥
सवन चित चाव चढ़ावन को। सज्जन उर मोद बढ़ावन को॥
हरि रस हर बस समुझावन को। श्रुति सम्मत मार्ग सुझावन को॥
युत सप्त सोपान समाप्त भयो। मदमय मन्यो सुप्रबंध नयो॥

दोहा—महिसुत वासर मध्य दिन, सुभ मिति तल्मवकूल।
सुर समूह जय जय किए, हर्षित वरषे फूल ॥ ४१ ॥
जेहि छिन यह आरंभ भो, तेहि छिन पूरेउ पूर।
निर्मल मानव लेखनी, खींचि लियो अति दूर ॥ ४२ ॥
पाँच पात गनपति लिखे, दिव्य लेखनी चाल।
सत, सिव, नाग, अरु द्यू, दिसप, लोक गए तत्काल ॥ ४३ ॥
सब के मानस मे बसेउ, मानस रामचरित्र।
बदत रिषिकनि पद कमल, मन क्रम बचन पवित्र ॥ ४४ ॥
वंदौ तुलसी के चरन, जिन कीन्हों जग काज।
कलि समुद्र बूडत लख्यो, प्रगटेउ सम्र जहाज ॥ ४५ ॥
परम मधुर पावन करनि, चार पदारथ दानि।
तुलसीकृत रघुपति कथा, कै सुरसरि रसखानि ॥ ४६ ॥

सोरठा—प्रगटे श्री हनुमान, अथ सो इति लौं सब सुनै।
दिए सुभग बरदान, कीरति त्रिभुवन बस करो ॥ १२ ॥

मिथिला के सुसत सुजान हते। मिथिलाधिप भाव पगे रहते ॥
सुचि नाम रुपारुन स्वामि जुतो। तेहि अवसर औध मे आयो हुतो ॥
प्रथमै यह मानस तेई सुने। तिनही अधिकारि गोसाइ गुने ॥
स्वामि नद सुलाल को शिष्य पुनी। तिसु नाम दलाल सुदास गुनी ॥
लिखिकै सोइ पोथि स्वठाम गयो। गुरु के ढिग जाय सुनाय दयो ॥
जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं। रसखानहि जाइ सुनावत भो ॥
तब ते बहुसख्यक पात लिखै। कछु लोगन औ निज हाथ रिखै ॥
मुकुतामनि दास जु आयो हतो। हरि सयन को गीत सुनायो हतो ॥
तिसु भावहि पै मुनि रीझि गए। पल मों पल भाँजत सिद्धि दए ॥

दोहा—तब हरि अनुसासन लहे, पहुँचे कासी जाय।
विश्वनाथ जगदव प्रति, पोथी दियो सुनाय ॥ ४७ ॥

छंद—पोथी पाठ समाप्त कै के धरे, सिवलिंग ढिग रात मे ।
मूरख पंडित सिद्ध तापस जुर, जब पट खुलेउ प्रात में ॥
देखिन तिरपित दृष्टि ते सब जने, कीन्ही सही सकरम् ।
दिव्याखर सों लिख्यो पढ़ै धुनि सुनै, सत्य सिव सुंदरम् ॥ ६ ॥

सिव की नगरी रस रंग भरी । यह लीला जु पाटि गई सगरी ॥
हरषे नर नारि जोहारि किए । जय जय धुनि बोलि बलैयाँ लिए ॥
पै पंडित लोगन सोच भयो । सब मान महात्तम जोव गयो ॥
पढिहैं यह पोथि प्रसादमयी । तब पूछिहैं कौन हमें मनजी ॥
दल बाँधि ते निन्दत बागत भे । सुर बानि सराहत पागत भे ॥
काउ मध चोराखन हेतु रचे । फरफंद अनेक प्रपंच पचे ॥
निधुआ सिधुआ युग चोर गए । रखवार बिलोकि निहाल भए ॥
तहि पूछे गोसाईं वे कौन धुही । जुग स्यामल गौर धरे धनुही ॥
सुनि बैन भरे जल नैन कहे । तुम धन्य ह्वै हरि दरस लहे ॥

दोहा—तजि कुकरम तसकर तरे, दिय सब बस्तु लुटाय ।
आइ धरे टाडर सदन, पोथी जतन कराय ॥ ४८ ॥

पुनि दूसर पात लिख्यो रुचि सो । तेहि ते लिपि पै लिपि होन लगी ॥
दिन दून प्रचार बढ़ लखिकै । सब पंडित हार हिया झखिकै ॥
तब मिश्र बटेसर तांत्रिक हो । दुख दाह सुधीगन रोय कही ॥
तिन मारन फेर प्रयोग कियो । हठि भैरव प्रेरि पठाय दिया ॥
हनुमंत से रच्छक देखि डर । उलटे सुबटेसर प्रान हरे ॥
तब हारि चले दल को सजि के । मधुसूदन सरस्वति के सद पै ॥
कहि कीन्ह प्रमान महेस सही । किसु कोटि को है नहि बाव कही ॥
स्रुति सास्त्र पुरान इतिहास इय । कहिके समरूच्छ तिसे कहिय ॥
यतिराज कहे मँगवाइय जू । तब पोथि निलाकि बताइय जू ॥

दोहा—जति मँगाय पोथी पढ़े, उपज्यो परमानंद ।
करि दिए लखि श्लोक यह, जयति सच्चिदानंद ॥ ४९ ॥

श्लो०—आनदकानने ह्यस्मिन् जगमस्तुलसी तरु ।
कवितामजरी भाति रामभ्रमरभूषिता ॥ १ ॥

जब पडित आए कहे तिन ते । किन पूछिय बात सदासिव से ॥
निगमागम सास्त्र पुरान सबै । क्रम ते धरि मानस नीचे कबै ॥
जब हैात विहान खुलेउ पट ला । सब दृष्टि परे तेहि देखन को ॥
लखि वेद के ऊपर मानस हीं । सब पडित लाज गरे तितही ॥
चरनौं पै पडे चरनोदक लै । अपराध कराइ छमा घर गै ॥
नदिया को सुपडित दत्त रवी । सब सास्त्र विसारद आसु कवी ॥
मुनि ते हठि बाद विबाद कियो । अरु हारि विषाद बढायो हियो ॥
जब न्हान गोसाई गए मठ ते । तब मारन हेतु गयो लठ ले ॥
हनुमत सुरच्छक देखि भज्यो । अपनी करनी पर आपु लज्यो ॥
पुनि जाइ गोसाइ रिझाय लियो । वर हेतु सुधी हठ भूरि कियो ॥

छद—माँगेउ सो वर तजिए पुरी मुनि निरस भे बर के दिए ।
कासिनाथ कहि निपरत हौंहैं कवित्त बनाय दृढ निस्चय किए ॥
सो लिखि धरै हर मदिरहि प्रस्थान दच्छिन दिसि किए ।
सिव दै दरस समुझाइ फेरे छुभित मन धीरज दिए ॥ ७ ॥

दोहा—सुनि प्रस्थान मुदित भयो, गयो दरस हित धीर ।
बद भयो पट धुनि भई, कोप सहित गभीर ॥ ५० ॥

सोरठा—जाइ गोसाई मनाउ, पग परि बहु विधि विनय करि ।
पुरि महँ लाइ बसाउ, ना तो होइहि नास तव ॥ १३ ॥

सुनि टोडर आय कियो विनती । मुनि मानिय सेवक की मिनती ॥
प्रिय घाट असी पर भौन नयो । बनिकै सह घाट तयार भयो ॥
बसिकै सुख सों सुख देइय जू । पदकज सदा हम सेइय जू ॥
सुख मानि गए वहि ठाम बसे । रघुवीर गुनावलि माँहि रसे ॥
कलि आयउ रात कृपान लिए । मुनि कहँ बहु भाँति सों त्रास दिए ॥
सो कहउ जन घेरहु पोथि निजै । न तो दाढिहौं वाढिहौं चेतु अबै ॥

कहिके भ्रम मो जु मिथ्यारो जवै । मुनि ध्यान धरेउ हरि हेतु तबै ॥
हनुमत कह्यो कलि ना मनिहै । मोहि बरजत वैर महा ठनिहै ॥
लिखिके विनयावलि देहु मोहीं । तब दंड दिवाउब तात ओही ॥
दोहा—विदित राम विनयावली, मुनि तब निर्मित कीन्ह ।
सुनि तेहि साखी सुत प्रभू मुनिहि अभय कर दीन्ह ॥५१॥
मिथिलापुर हेतु पयान किए । सुकृती जन को सुख सांति दिए ॥
भृगु आस्रम में दिन चारि रहे । करहीन जुवा कर पाप दहे ॥
दिन एक बसे मुनि हंसपुरा । परसी को सुहाग दिए बहुरा ॥
गउघाट में राउ गभीर घरे । दुइ वासर लों तहँवाँ ठहरे ।
श्रहोस सुदरसन कैंके चले । पुनि कांत ब्रह्मपुर माँ निकले ॥
सँवरू-सुत माँगरू ग्वाल हतो । दुहि दूध दियो सुर साधु रतो ॥
बर दीन्ह तज चोरहाइ सहूँ । भिरवम न होवहुगे कबहूँ ॥
तब बेलापतार म आय रहे । तहँ दाम धनी निज कष्ट कहे ॥
छंद—कहे कष्ट आपन कांहि जाइहि प्रान मम पातक वयो ।
मूसहि लगायो भोग कहि कहि खात हरि मोहिं कियो ।
रघुनाथसिंह जानेउ दगा करि कोप सो बोलेउ मुन ।
नहि खाहि ठाकुर सामुहे मम तोपि वध निस्चय गुने ॥८॥
सोरठा—मुनिवर धीरज दीन्ह, कियो रसोई साधु तब ।
सन्मुख भोजन कीन्ह, ठाकुर लखि रिषि इमि कहेउ ॥१४॥
दोहा—तुलसी झूठे भगत की, पत राखत भगवान ।
जिमि मूरख उपरोहितहि, देत दान जजमान ॥ ५२ ॥
निज गेह पवित्र करावन को । लै गो मुनि को वर नायक सो ॥
तहँ भक्त मुगोविद मिश्र मिले । जिसु दृष्टि ते लोह घना पिघिले ॥
मुनि गाँव के नाँव में फेर फरे । रघुनाथपुरा तिसु नाम धरे ॥
तहँ तू चलिकै विचरे चिचर । अपि हरिहरखेत म जा पधरे ॥
पुनि संगम मजि चले सपदी । लियराए निदेदपुरी छपदी ॥

धरि बालिका रूप निदेरलली। बहराय के सीर सवाय चला॥
जब जानेउ मर्म कहा कहिए। मन ही मन सोचि कृपा रहिए॥
द्विज लोगन हाला के घेरि रहे। अरु आपन घोर निपत्ति कहे॥
छत सूबा नवाब बडो रगरी। सो तो बारहो गाँव की वृत्ति हरी॥

दोहा—दाया लागि कर्त्तव्य गुनि, सुमिरे वायुकुमार।
दडित करि बहुरायऊ, सुखयुत द्विज परिवार॥ ५३॥
मिथिला ते कासी गए, चालिस सवत लाग।
दोहावलि सग्रह किए, सहित विमल अनुराग॥ ५४॥
लिखे वालमीकी बहुरि, इकतालिस के माँहि।
मगसर सुदि सतिमी रवौ, पाठ करन हित ताहि॥ ५५॥
माधव सित सिय जनम तिथि, ब्यालिस सवत बीच।
सतसैया बरनै लगे, प्रेम बारि ते साच॥ ५६॥

सोरठा—उतरु सनीचरि मीन, मरी परी कासीपुरी।
लोगन हूँ अति दीन, जाइ पुकारे रिषि निकट॥१५॥
लागिय नाथ गोहार अपर बल कछु न निसाता।
राखैं हरि के दास कि सिरजनहार विधाता॥

दोहा—करुनामय मुनि सुनि बिथा, तत्र कवित्त बनाय।
करुनानिधि सों विनय करि, दीन्ही मरी भगाय॥ ५७॥

कवि केसवदास बडे रसिया। घनस्याम सुकुल नभ के बसिया॥
कवि जानि के दरसन हेतु गए। रहि बाहिर सूचन भेजि दिए॥
सुनिकै जु गोसाइ कहे इतनो। कवि प्राकृत केसव आवन दो॥
फिरिगे झट केसव सो सुनिकै। निज तुच्छता आपुइ ते गुनिकै॥
जब सेवक टेरेउ गे कहिकै। हौं भेंटिहौं कालिह विनय गहिकै॥
घनस्याम रहे घासिराम रहे। बलभद्र रहे निसाम लहे॥
रचि राम सुचद्रिका रातिहि में। जुरै केसव जू असि घातिहि में॥

सतसग जमी रस रग मची । दोउ प्राकृत दिव्य विभूति रची ॥
मिटि केसव को सकोच गयो । उर भीतर प्रीति की रीति रयो ॥

दोहा—आदिल साही राज के, भाजक दान अनेत ।
दत्तात्रेय सुविप्रवर, आए रिपय निकेत ॥ ५८ ॥
करि पूजा आसिष लही, माँगी पुन्य प्रमाद ।
लिखिन वालमीकी स्वकर दिए सहित अहलाद ॥ ५९ ॥
अमरनाथ जोगी लिया, हरि वैरागी लीन ।
ताते कोपि तिनहि रहित, कठी माला कीन ॥ ६० ॥
मच्यो कोलाहल साधु सब, आए मुनिवर पास ।
फेरि मिल्यो सो आसनन, रिपय कृपा अनयास ॥ ६१ ॥
आयो सिद्ध अघोरिया, अलख जगावत द्वार ।
छिन महँ सिद्धाई हरी, उपदेसेव सुनि सार ॥ ६२ ॥

निमियार को विप्र सुधर्मरता । बनखडि सुनाम विमोह गता ॥
सब तीरथ लुप्तहि चाहु थपै । तिसु हेतु सदासिव मत्र जपै ॥
इक प्रेत धना ढिग ठाढ़ भयो । बहु द्रव्य गडो सो दिखाइ दयो ॥
सो कह्यो धन लै सुभ काज सरो । यहि योनि ते मोर उधार करो ॥
गन हरपित विप्र कह्यो मोहि कहाँ । चौधाम घुमाय सुतीरथ माँ ॥
तब कामि गुसाइ के तीर चलो । तिस दरसन होय तुम्हारो भलो ॥
सुर मानि कै दै सोइ प्रेत कियो । नभ माहि अर्सी पर छेक लियो ॥
जन सोर मच्यो बहु लोग जुरे । सब कौतुक देखहि अग फुरे ॥
निज आस्रम ते कढि आयो मुनी । नभ ते भया जय जयकार धुनी ॥

दोहा—दिव्य रूप धरि जान चढि, प्रेत गयो हरिधाम ।
तुलसी दरस प्रभाव ते, सोक्ष भयो निधि धाम ॥ ६३ ॥
बनखडी महि पर गिरउ, पग छुइ कियो प्रनाम ।
सुनि मन सब व्यवरा कह्यो, यमेउ रसउ तेहि ठाम ॥ ६४ ॥

तासु विनय वस मुनि चले, तीरथ थापन काज।
पहुँचे अवधहि पाँच दिन, तहाँ टिके रिषिराज ॥ ६५ ॥

दै रामगीतावलि गायक को। जे गावहि जस रघुनायक को ॥
मन बोध तिवारिहि श्रौध छटा। सब कचनमय वन भूमि अटा ॥
देखरा को चले रो नाही टिके। पुनि सूकरखेत में जाय थिके।
सियावार सुगाँव में बास लिए। तहँ सीता सुकूप को पाथ पिए ॥
पहुँचे लखनैपुर मोद भरे। अरु धेनुमती तट पै उतरे ॥
कहुँ दीनन को प्रतिपाल करैं। कहुँ साधुन के मन मोद भरैं ॥
कहुँ लखन लाल को चरित बचैं। कहुँ प्रेम मगन ह्वै आपु नचैं ॥
कहुँ रामायन कल गान सचैं। उत्साह कोलाहल भूरि मचैं ॥
कहुँ आरत जन को ताप हरें। कहुँ अज्ञानिन उर ज्ञान धरैं ॥

दोहा—निरधन भाट दमोदरहि, आसिष दै कवि कीन।
लहेउ विपुल धन मान बहु, भा कविकला प्रवीन ॥ ६६ ॥
तहँ ते मलिहाबाद में, आय सत सिरताज।
रामायन निज कृत दिए, व्रजवल्लभ भटराज ॥ ६७ ॥
पुनि अनन्य माधव मिले, कोटरा ग्रामहि जाय।
माता प्रति सिच्छा सुने, भगति दिए बतलाय ॥ ६८ ॥

पुनि जाय निहूर में रैनि बसे। सरि मज्जत पाँक में जाइ धसे ॥
गहि बाँह निकारेउ जन्हुसुता। तन ताथो जरा न रही जु बुता ॥
तहँ ते चलि जाय सँडीले परे। गौरी सकर गृह माघ धरे ॥
कहे या घर मे लीन्है जनम पखा। मनसूखा स्वय श्री कृष्ण सखा ॥
कछु काल गए सोइ जन्म धर्यो। बसोधर ताकर नाम पर्यो ॥
कवि भो मुनिवर उपदेस कियो। पख रास सुनै तनु त्याग दियो ॥
तेहि श्याम विमान पै जात लख्यो। हलवाइ सुसिद्ध प्रवीन भख्यो ॥
सत्सगिन देखि निहाल भए। उपदेस सनातन पूर लए ॥

दोहा—सडीले ते मुनि चले, मग ठाकुर छितिपाल।
नमन कियो नहिं मद मतो, तुरत भयो कगाल ॥ ६९ ॥
सोरठा—विप्रन किय अपमान, ताते ते निरधन भए।
कैथन किय सनमान, सुखी भए धन धम लहि ॥ १६ ॥
दोहा—जुरे जुलाहे भेंट धरि, लहै निपुल धन धान्य।
पहुँचे नैमिष वन मुनी, सर्व तत्र सम्मान्य ॥ ७० ॥
सोधि सकल तीरथ थपे, किय त्रय मास निवास।
मिले पिहानी के सुकुल, सवत लगु उनचास ॥ ७१ ॥
खैराबाद को सिद्ध प्रज्ञान धरे। मुनि आपुइ जोग ते जाइ परे ॥
करि ताहि निहाल चले मिसरिय। सग म बलवड़ि दुचारिक सिप ॥
पुनि नाव चढे सुरा सों निचरे। पुर राम सुनै तुरतै उतरे ॥
नृप सेवक टटा वेसाहि रहे। सब माल मता तजि राह गहे ॥
मिहराम सुनो पग दौरि गह्यो। करिके सु विनय पद टेकि रह्यो ॥
तब लौटि परे तिसु धाम बसे। हनुमतहि थापि तहाँ निलसे ॥
बसीवट नाम धर्यो वटरय। मगसर सुदि पचमी रास रचय ॥
वृंदावन में वहँ ते जु गए। सुठि राम सुघाट पै वास लए ॥
घड धूम मचो सुचि सब घरे। मुनि दरसन को नर नारि जुरे ॥
दोहा—स्वामी नामा ढिग गए, ते किय बहु सम्मान।
उच्चासन पधराइ मुनि, पूजे सहित विधान ॥ ७२ ॥
विप्र सब नाभा सहित, हरि दरसन के हेत।
गए गोसाइ मुदित मन, मोहन मदन निकेत ॥ ७३ ॥
राम उपासक जानि प्रभु, तुरत धरे धनुवान।
दरसन दिए सनाथ किय, भगतवछल भगवान ॥ ७४ ॥
बरसाने में लीला सो व्यापि गई। मुनि आसन पै बडि भीर भई ॥
कछु कृस्न उपासक देव भरे। धनुवान धरे पर मोह सरे ॥
तिनको समुझाए सुनरव महा। जन को प्रन राम न राख्यो कहा ॥

सुभ दच्छिन देस तें आत हतो। हरि मूरति ग्रवधहिं थापन को॥
विस्राम भयो जमुनातट पै। लखि मूरति मोहे विप्र उदै॥
सो चहो हरि विग्रह वाई चपै। विनती किय जाइ गोसाइहि पै॥
न उठाए उठे जब सो प्रतिमा। तब थापित कीन्ह वहँ जिजिमा॥
तिसु नाम कौसिल्या-नंदन जू। मुनिराज धरै जग वदन जू॥
नंददास कनौजिया प्रेम मढे। जिन सेस सनातन तीर पढ़े॥
सिच्छा गुरु वधु भए तेहिते। अति प्रेम सों आय मिले यहि तें॥

दोहा—हित सुत गोपीनाथ प्रति, महिमा अवध बखानि।
जेहि नहिं ठाँव ठिकान कहुँ, तिनहिं बसावत आनि॥ ७५॥

फेरि ग्रमनिया दिए पुनि, मथुरा ताहि बताय।
हलवाई बनिकन सदन, बालकृस्न दिखराय॥ ७६॥

सोरठा—इमि लीला दरसाय, भगतन उर आनंद भरि।
चित्रकूट महँ जाय, किए कछुक दिन बास तहँ॥ १७॥

सतकाम सुविप्र गोसाईं लगे। दीच्छाहित आयो सुवृत्ति जगे॥
लखि कामविकार न सिष्य किए। टिकिगो तहँ सो हठ ठानि हिए॥
जब राति में रानि कदब लता। आइ तासु विलोकन सुदरता॥
तिन दीपक बाति बढाइ लियो। लखिकै मुनि सुदर सीख दियो॥
सो विप्र लजाइ कै पाँय पर्‌यो। करिकै मुनि छोह विकार हर्‌यो॥
पुनि विप्र दरिद्र महा जलपा। मदाकिनि डूबन हेतु चला॥
तिसु प्रान बचावन हेतु रिषय। सुठि दारिद मोच सिला प्रगटय॥
पुनि साहि खवास पठायउ जू। मुनिराजहि दिल्ली बुलायउ जू॥

दोहा—चले जमुन तट नृप तिलक, साधु कियो सरनाम।
राधा बल्लभ भगति दिय, रीझे स्यामा स्याम॥ ७७॥

सोरठा—उडछै केसवदास, प्रेत हतो घेरेउ मुनिहिं।
उधरे विनहिं प्रयास, चढि विमान स्वर्गहि गयो॥ १८॥

घरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुदरता पै जग मुदिता ॥
इक नारिहि ते तिसु व्याह भयो। जब जानेउ दारुन दाह भयो ॥
वर की जननी जनमावत दी। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही ॥
अनुकूलहि साज समान कियो। जे जानत भे तिहि पूजि दियो ॥
यहि कारन घोखा भयो वहुते। अब रोवत मींजत हाथ सबै ॥
तिन घेरे दया लगि मत दिए। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किए ॥
विश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु मव्द प्रथम यह आनिय जू ॥
हिय, सत, अरु कीन्हरु स्याम लगा। श्री राम मैन पुनि हारि पगा ॥
कह मारुत सुत, जहँ तहँ, पुन्य। इति पाठ नवाह्निक ठाम अय ॥

दोहा—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ विराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम ॥ ७८ ॥
तहँ ते पँचयें दिन मुनी, पहुँचे दिल्ली जाय।
खबरि पाय तुरतहि नृपति, लिय दरबार बुलाय ॥ ७९ ॥
दिल्लीपति विनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गए वदी किए, कीन्हे कपि उतपात ॥ ८० ॥
वेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब वाम।
हाहाकार मच्यो महल, पटका नृपहि धडाम ॥ ८१ ॥
मुनिहि मुक्त तत छन किए, छमापराध कराय।
निदा कीन्ह मनमान जुत, पीनम पै पधराय ॥ ८२ ॥

चलि दिल्ली ते आए महाजन म। निमि वाम किए जु अहीगन में ॥
इक ग्वार मगीरथ पै हुरिगे। तेहि सिद्ध सुमत बनावत भे ॥
दसएँ दिन श्रीघरहि आय रहे। भरि पाग तहाँ सुमताय रहे ॥
हरिदाम सुमक सुगीत रचो। तेहि मौं कछु मव्द अमुद्ध भयो ॥
मुघराए मुनी पै न वोघ भयो। तिसु कीर्त्तन मे अवराध भयो ॥
सपने मुनी ते रघुवीर कह्यो। नहि सुद्ध असुद्ध सुभाव गह्यो ॥

सुभ दच्छिन देस ते जात हतो। हरि मूरति अवधहिं थापन को ॥
बिस्राम भयो जमुनातट पै। लखि मूरति मोहे विप्र उदै ॥
सो चहो हरि निग्रह वाई थपै। विनती किय जाइ गोसाइहि पै ॥
न उठाए उठे जब सो प्रतिमा। तब थापित कीन्ह तहँ जिजिमा ॥
तिसु नाम कौसिल्या-नंदन जू। मुनिराज धरै जग बंदन जू ॥
नंददास कनौजिया प्रेम मढे। जिन सेस सनातन तीर पढे ॥
सिच्छा गुरु बंधु भए तेहिते। अति प्रेम सों आय मिले यहि ते ॥

दोहा—हित सुत गोपीनाथ प्रति, महिमा अवध बखानि।
जेहि नहिं ठाँव ठिकान कहुँ, तिनहिं बसावत आनि ॥ ७५ ॥

फेरि अमनिया दिए पुनि, सखरा ताहि बताय।
हलवाई बनिकन सदन, बालकृस्न दिखराय ॥ ७६ ॥

सोरठा—इमि लीला दरसाय, भगतन उर आनंद भरि।
चित्रकूट महँ जाय, किए कछुक दिन बास तहँ ॥ १७ ॥

सतकाम सुविप्र गोसाईं लगे। दीच्छाहित आयो सुवृत्ति जगे ॥
लखि कामविकार न सिष्य किए। टिकिगो तहँ सो हठ ठानि हिए ॥
जब राति मे रानि कदंब लता। आइ तासु विलोकन सुंदरता ॥
बिन दीपक बाति बढाइ लियो। लखिकै मुनि सुंदर सीख दियो ॥
सो विप्र लजाइ कै पाँय परयो। करिकै मुनि छोह विकार हर्यो ॥
पुनि विप्र दरिद्र महा जलपा। मदाकिनि डूबन हेतु चला ॥
तिसु प्रान बचावन हेतु रिपय। सुठि दारिद मोच सिला प्रगटय ॥
पुनि साहि खवास पठायउ जू। मुनिराजहि दिल्ली बुलायउ जू ॥

दोहा—चले जमुन तट नृप तिलक, साधु कियो सरनाम।
राधा बल्लभ भगति दिय, रीझे स्यामा स्याम ॥ ७७ ॥

सोरठा—उडछै केसवदास, प्रेत हतो घेरेउ मुनिहिं।
उधरे बिनहि प्रयास, चढि बिमान स्वर्गहि गयो ॥ १८ ॥

खरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुदरता पै जग मुहिता ॥
इक नारिहि ते तिसु व्याह भयो। जब जानेउ दारुन दाह भयो ॥
वर की जननी जनमावत ही। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही ॥
अनुकूलहि साज समान कियो। जे जानत भे तिहि पूजि दियो ॥
यहि कारन धोखा भयो बहुतै। अब रोवत मींजत हाथ सबै ॥
तिन घेरे दया लगि सत हिए। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किए ॥
विश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु सब्द प्रथम यह आनिय जू ॥
हिय, सत, अरु कीन्हरु स्याम लगा। औ राम सैल पुनि हारि पगा ॥
कह मारुत सुत, जहँ तहँ, पुन्य। इति पाठ नवाह्निक ठाम अय ॥

दोहा—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ विराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम ॥ ७८ ॥
तहँ ते पँचयें दिन मुनी, पहुँचे दिल्ली आय।
खबरि पाय तुरतहि नृपति, लिय दरबार बुलाय ॥ ७९ ॥
दिल्लीपति बिनती करी, दिखरावहु करमात।
मुकरि गए बंदी किए, कीन्हे कपि उतपात ॥ ८० ॥
बेगम को पट फारेऊ, नगन भई सब बाम।
हाहाकार मच्यो महल, पटको नृपहि धडाम ॥ ८१ ॥
मुनिहि मुक्त तत छन किए, छमापराध कराय।
निंदा कीन्ह मलमान जुव, पीनस पै पधराय ॥ ८२ ॥

चलि दिल्ली ते आए मदावन में। निसि बास किए जु अहीरन म ॥
इक ग्वार भगीरथ पै दुरिगे। तेहि सिद्ध सुसत बनावत भे ॥
दसयें दिन औधहि आय रहे। भरि पाख तहाँ सुसताय रहे ॥
हरिदास सुभक्त सुगीव रयो। तेहि माँ कछु सब्द असुद्ध भयो ॥
सुघराए मुनी पै न बोध भयो। तिसु कीर्त्तन में अवरोध भयो ॥
सपने मुनी ते रघुबीर कह्यो। नहि सुद्ध असुद्ध सुभाय गह्यो ॥

जब जाइ मुनि तिसु भाव भरो। जस गावत हो तस गाया करो॥
सुनि बालचरित्र अनंदित ह्वै। मुनि तुष्ट किए सुपटवर दै॥
दोहा—देव मुरारी भेंट मिलि, सहित मलूकादास।
पहुँचे कासी में रिषय, किए अखंड निवास॥ ८३॥
सुचि माघ में गंग नहाय हते। सरि भीतर मंत्र महा जपते॥
तन वृद्ध सो काँपत रोम खड़े। गनिका रहि देखत तीर खड़े॥
कढ़िकै मुनि सींचेउ वस्त्र धरे। दुइ बुंद सोई गनिका पै परे॥
वेस्या मन में निरवेद जगो। बहु त्रस्य नित्य दिखरान लगो॥
सब पाप प्रपंच ते दूर भगो। उपदेस ले हरिगुन गान लगो॥
हरिदत्त सु विप्र दरिद्र महा। तिसु गंग के पार में बास रहा॥
मुनि के ढिग आय विपत्ति कही। जस दीन दसा घर केर रही॥
ऋषि अस्तुति गंग बनाय करी। सुरसरि दै भूमि विपत्ति हरी॥
दोहा—निंदक मुनि अरु भगतिपथ, भुलई साहु कलार।
निधन भयउ टिकठी धरे, लैगे फूकनहार॥ ८४॥
तासु तिया रोवत चली, मुनि ढिग नायउ सीस।
सदा सोहागिन रहहु तुम, मुनिवर दीन्ह असीस॥ ८५॥
बिलखि कही सो निज दसा, सव मुनि लिए मँगाय।
चरनामृत मुख देइकै, तुरतै दिए जियाय॥ ८६॥
तेहि बासर ते मुनि नेम लिए। अरु बाहिर बैठब त्यागि दिए॥
रहे तीन कुमार बड़े सुकृती। मुनि चरनन मे तिनकी भगती॥
रिषि केस रह्यो मनिकर्निका पै। निसुनाथ के मंदिर सौंति पदै॥
अनपूर्ना में दाता दीन रहे। रहनी गहनी सम साम गहे॥
मुनि दरसन को नित आवत जू। चरनोदक लै घर जावत जू॥
पहिचानि सुप्रीति मुनी तिनकी। सुचि टेक विवेक समाचिन की॥
तिनके हितही बहिरायँ मुनी। दैके दरसन भितरायँ पुनी॥
सब दरसक वृंद चवाव करैं। मुनि पै पच्छपात को दोष धरैं॥

दिन एक परीच्छा लीन मुनी। बहिगाए नहीं सोइ भाव गुनी ॥
सन तीनिउ ता छिन त्यागि किए। चरनोदक जीवन दान दिए ॥

दोहा—सोरह सै उनहत्तरो, माधव सित तिथि धीर।
पूरन आयू पाइकै, टोडर तजै सरीर ॥ ८७ ॥
मीत विरह में तीन दिन, दुखित भए मुनि धीर।
समुझि समुझि गुन मीतके, भर्‍यो विलोचन नीर ॥ ८८ ॥
पाँच मास बीते परे, तेरस सुदी कुआर।
युग सुत टोडर बीच मुनि, बाँटि दिए घर बार ॥ ८९ ॥
नव सिख कर्ता आसु कवि भीषमसिह कनगोय।
आयो मुनि दरसन कियो, त्यागेउ तन हरि जोय ॥ ९० ॥
गग कहेउ हाथी कवन, माला जपेउ सुजान।
कठमलिया वचक भगत, कहि सो गयो रिसान ॥ ९१ ॥
छमा किए नहिं स्राप दिय, रँगे सांति रस रग।
मारग में हाथी कियो, झपटि गगतन भग ॥ ९२ ॥
कवि रहीम बरवा रचे, पठए मुनिवर पास।
लखि तेइ सुदर छद मे, रचना किए प्रकास ॥ ९३ ॥
मिथिला में रचना किए, नहछू मगल दोय।
मुनि प्रांचे मत्रित किए, सुख पावै सब कोय ॥ ९४ ॥
बाहु पीर ब्याकुल भए, बाहुक रचे सुधीर।
पुनि विराग सदीपनी, रामाज्ञा सकुनीर ॥ ९५ ॥
पूर्व रचित लघु ग्रथननि, दोहराए मुनि धीर।
लिखवाए सब आन ते, भे अति छीन सरीर ॥ ९६ ॥
जहाँगीर आयो तहाँ, सत्तर सवत बीत।
धन धरती दायो चहै, गहे न गुनि विपरीत ॥ ९७ ॥
धारमल की चर्चा भई, जो पटु वागविलास।
बुद्धि पाइ नहिं हरि भजे, मुनि किय खेद प्रकास ॥ ९८ ॥

अवधपुरी को चोहड़हि, अवधवासि प्रिय जानि ।
हृदय लगाए प्रेमबस, रामरूप तेहि मानि ॥ ९९ ॥
सिद्ध वृंद गिरिनार के, नभ ते उतरे आय ।
करि दरसन पुलकित भए, प्रश्न किए सतिभाय ॥ १०० ॥
जोग न भगति न ग्यान बल, केवल नाम अधार ।
मुनि उत्तर सुनि मुदित मन, सिद्ध गए गिरिनार ॥ १०१ ॥
सोरठा—तुमहि न व्यापै काम, अति कराल कारन कवन ।
कहिय तात सुखधाम, जोग प्रभाव कि भगति बल ॥ १९॥
दोहा—बैठि रहे मुनि घाट पर, जुरै लोग बहुताय ।
आयो भाट सुचद्रमनि, विनय कियो परि पाय ॥ १०२ ॥

सवैया

पेन देइक भोग विषय अरुभ्कान अब जो रह्यो सो न रसाइय जू ।
अबलौं सब इद्रिन लोग हँस्यो अब तो जनि नाथ हँसाइय जू ॥
मद मोह महा खल काम अनी मम मानस ते निकसाइय जू ।
रघुनदन के पद के सदके तुलसी मोहि कासी बसाइय जू ॥ १ ॥

दोहा—विनय सुनत पुलकित भए, कहि रिषिराज महान ।
बसहु सुपेन इतै सदा, करहु राम गुन गान ॥ १०३ ॥
हत्यारा ढिग आयऊ, विप्र चद तिसु नाम ।
दूर ठाढ बोलत भयो, राम राम पुनि राम ॥ १०४ ॥
इष्ट नाम सुनि मगन भे, तुरत लिए उर लाय ।
आदर जुत भोजन दिए, हरषि कहे रिषिराय ॥ १०५ ॥
तुलसी जाके मुखनि ते, धोखेहु निकसे राम ।
ताके पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम ॥ १०६ ॥
समाचार व्याप्यो तुरत, वीथिन वीथिन माँझ ।
ग्यानी ध्याना विप्र भट, सुधी जुरे भई साँझ ॥ १०७ ॥

कैसे घातक शुद्ध भो, कहिए सत महान।
कहे जु नाम प्रताप ते, बाँचहु वेद पुरान ॥ १०८ ॥
कह्यौ लिख्यो तो है सही, होत न पै विश्वास।
मन माने जावे कहिय, सोइ कर्त्तव्य प्रकास ॥ १०९ ॥
कहे जो सिव को नादिया, गहे तासु कर ग्रास।
तब तो निश्चय उपजही, सब के मन विस्वास ॥ ११० ॥
मुनि प्रसाद ऐसहि भयो, चहुँ दिसि जय जयकार।
निंदक माँगे छमा सब, पग परि बारबार ॥ १११ ॥
राम नाम दिन भर रटैं, लोभ विवस मुनि ध्यान।
साँझ समय तेहि विप्र कहँ, द्रव्य देत हनुमान ॥ ११२ ॥
राम दरस हित कमलभव, हठेउ कहेउ मुनिराय।
तरु ते कूदि त्रिसूल पै, दरस लेहु किन जाय ॥ ११३ ॥
गाडि सूल अरु विटप चढ़ि, हिम्मत हारेउ पात।
लखेउ पछाहीं बीर इक, अस्व चढ़े मग जात ॥ ११४ ॥
पूछेउ मर्म कहेउ कथा, सो चढ़ि विटप तुरत।
कूदेउ उर विस्वास धरि, दीन्ह दरस भगवत ॥ ११५ ॥
अब समय हनुमत दिए, तत्त्व ग्यान को बोध।
राम नाम ऐ बीज है, सृष्टि वृच्छ नयग्रोध ॥ ११६ ॥
पर प्रयान की सुभ घड़ी, आयो निकट बिचारि।
कहेउ प्रचारि मुनीस सब, आपन दसा निहारि ॥ ११७ ॥
रामचन्द्र जस बरनिके, भया चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ऐ तुलसी सोन ॥ ११८ ॥
संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यो सरीर ॥ ११९ ॥
मूल गोसाईं चरित नित, पाठ करै जो कोय।
गौरी सिव हनुमत कृपा, राम परायन होय ॥ १२० ॥

मोरद मैं सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
विरच्या यहि निज पाठ हित, वेनीमाधवदास ॥ १२१ ॥

इति श्री वेणीमाधवदास कृत मूलगोसाईंचरित समाप्तम्। श्री शांडिल्य गोत्रात्पन्न पतितपावन त्रिपाठी रामरत्न मणि राम दासेन सदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजया दशमी सवत् १८४८ भृगुवासरे ॥

[नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० ७ स० ४

अनुक्रमणिका

सोरह मै सत्तासि सित, नवमी कातिक मास।
बिरच्यो यहि निज पाठ हित, बेनीमाधवदास ॥ १२१ ॥

इति श्री बेणीमाधवदास कृत मूलगोसाईंचरित समाप्तम्। श्री शांडिल्य गोत्रोत्पन्न पत्तिपावन त्रिपाठी रामरत्न मणि राम दासेन तदात्मजेन च लिखितम्। मिति विजया दशमी सवत् १८४८ भृगुवासरे ॥

[नागरीप्रचारिणी पत्रिका भा० ७ स० ४

अनुक्रमणिका

अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१३	विरती	विरति
४	१८	भूतीधुँवा	भूतिधुँवा
५	२०	स्वाधीन-नेता	स्वाधीन चेता
११	८	हो जायगी	होगा
१३	३	भक्तमाल को	भक्तमाल का
२१	१४	महत	बृहत्
२३	२	पाडेय की	पांडेय की प्रति की
१४	१५	भा	भी
९१	७	पट-रूप	पर-रूप
१२८	१६	अच्छी	उच्छिष्ट
१४७	३	अध्यात्म	आध्यात्म-
१५५	५	यह	या
१८०	२२	मुस्लिम	यवन
१८३	१७	रस	राजा
१८७	८	मिलान	मिलन
१२९	८	अवश्य है—	अवश्य है।
१९०	४	भावना	समावना
,,	१५	लपेटने	समेटन
,,	१९	भजहि न	भजहि

अशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१३	विरती	विरति
४	१८	भूतीर्ध्रुवा	भूतिर्ध्रुवा
५	२०	स्वाधीन नेता	स्वाधीन चेता
११	८	हो जायगी	होगा
१३	३	भक्तमाल को	भक्तमाल का
२१	१४	महत्	बृहत्
२३	२	पांडेय की	पांडेय की प्रति की
१४	१५	भा	भी
९१	७	पट-रूप	पर-रूप
१२८	१६	अच्छी	उच्छिष्ट
१४७	३	अध्यात्म	आध्यात्म-
१५५	५	यह	या
१८०	२२	मुस्लिम	यवन
१८३	१७	रम	राजा
१८७	८	मिलान	मिलन
१२९	८	अवश्य है—	अवश्य है।
१९०	४	भावना	सभावना
"	१५	लपेटने	समेटने
"	१९	भजहि न	भजहि